

चिन्तन-सृजन

त्रैमासिक

वर्ष 5 अंक 1

जुलाई-सितंबर 2007

सम्पादकीय परामर्शदात्री समिति
लोकेश चन्द्र
यशदेव शल्य
जे.एन.राय
रमेशचन्द्र शाह

सम्पादक
बी. बी. कुमार

आस्था भारती
दिल्ली

विषय-क्रम

वार्षिक मूल्य :

व्यक्तियों के लिए	60.00 रुपये
संस्थाओं और पुस्तकालयों के लिए	150.00 रुपये
विदेशों में	\$ 15

एक प्रति का मूल्य

व्यक्तियों के लिए	20.00 रुपये
संस्थाओं के लिए	40.00 रुपये
विदेशों में	\$ 4

विज्ञापन दरें :

बाहरी कवर	10,000.00 रुपये
अन्दर कवर	7,500.00 रुपये
अन्दर पूरा पृष्ठ	5,000.00 रुपये
अन्दर का आधा पृष्ठ	3000.00 रुपये

आस्था भारती

12/604 ईस्ट एंड अपार्टमेन्ट

मयूर विहार फेस-1 विस्तार

दिल्ली-110 096

से आस्था भारती के लिए डॉ. बी.बी. कुमार, सचिव द्वारा प्रकाशित तथा विकास कम्प्यूटर एण्ड प्रिण्टर्स, नवीन शाहदरा, दिल्ली-32 द्वारा मुद्रित।

फोन : 011-22712454

ई.मेल : asthabharati@yahoo.com, asthab@vsnl.net

वेब साइट : asthabharati.org

चिन्तन-सृजन में प्रकाशित सामग्री में दृष्टि, विचार और अभिमत लेखकों के हैं। सम्पादक की सहमति अनिवार्य नहीं है।

सम्पादकीय परिप्रेक्ष्य	5
1. देवनागरी लिपि आचार्य रघुवीर	11
2. डायरी के पन्नों से रमेशचंद्र शाह	24
3. शिक्षा, आधुनिकता और विकास : एक परिचर्या प्रस्तुति : लक्ष्मी नारायण मित्तल	38
4. आकांक्षाएँ उदयन वाजपेयी	46
5. ब्रिटेन में इस्लामी उग्रवाद का विकास शंकर शरण	55
6. प्राकृत औपदेशिक कथा साहित्य श्रीरंजन सूरिदेव	67
7. प्राकृत पैंगलम और आधुनिक भाषाएँ राजमल बोरा	79
8. पत्रकारिता का भाषा बोध पुष्पपाल सिंह	105
9. समकालीन भारत में संस्कृति और जनसंचार शर्वेश पाण्डेय	113
10. पुस्तक समीक्षा : गंगावतरण : पर्यावरण की प्रतिबद्धता समीक्षक : कामेश्वर पंकज	121
पाठकीय प्रतिक्रिया	125

सम्पादकीय परिप्रेक्ष्य

हमारी चिन्ताएँ! हमारा दर्द!!

इस देश के लोग अभी भी बिगड़े नहीं हैं। अच्छी बातें उन्हें अच्छी लगती हैं। गलत बातें सुनकर उन्हें झटका लगता है; क्रोध भी होता है; पर उनका मन उन गलत बातों पर विश्वास करने का नहीं होता। वे बार-बार विश्वास करते हैं, ठगे जाते हैं। ठगने वाले सोचते हैं कि जनता की स्मरण-शक्ति कमजोर होती है; उसे बार-बार ठगा जा सकता है।

इस देश में अनावश्यक विवाद पैदा करने की घातक प्रवृत्ति तेजी से बढ़ रही है। इस देश के नेता, बुद्धिजीवी, समाचार माध्यम इसमें बढ़-चढ़कर हिस्सा लेते हैं। ये बार-बार अपनी ज्ञान की सीमाओं का अतिक्रमण करते हैं; अनावश्यक विवाद पैदा करते हैं, जिससे देश और समाज को अपूरणीय क्षति पहुँचती है। हमारा दुर्भाग्य है कि हम इससे बच नहीं पा रहे हैं।

आज हमारे देश और सामाजिक जीवन का कोई पक्ष नहीं जो अनावश्यक विवाद से बचा हो। यहाँ तक कि हमारे देश की सर्वोच्च संस्था, भारतीय संसद, हमारा न्यायतंत्र भी इस रोग से अछूता नहीं। संसद बार-बार विवाद के घेरे में आती है, वहाँ अशोभनीय दृश्य उपस्थित होते हैं, बैठकें स्थगित होती हैं; बिना कोई काम निपटाए सत्रावसान घोषित कर दिया जाता है। ऐसा लगभग पिछले दस वर्षों से होता रहा है। विवाद के विषय विकास, गरीबी, अशिक्षा, भ्रष्टाचार, अव्यवस्था, बढ़ती अराजकता, हिंसा, आतंकवाद, विदेशी घुसपैठ, राष्ट्रीय सुरक्षा आदि नहीं होते। संसद में विवाद में अग्रणी भूमिका प्रायः दो राष्ट्रीय पार्टियोंकांग्रेस तथा भारतीय जनता पार्टीकी होती है। वैसे भारतीय राजनीतिक दलों को केवल नाम से ही जाना जा सकता है। सबका उद्देश्य मात्र कुर्सी पाना रह गया है; उनकी कार्य-प्रणाली, सिद्धान्तहीनता, जन और जमीन के प्रति संवेदनहीनता में कोई फर्क नहीं; सबके चेहरे एक तरह के हैं, बिल्कुल सपाट। हम प्रायः ही राजनीति के शीर्ष पर बैठे लोगों को परस्पर विरोधी बातें बोलते हुए सुनते हैं; स्पष्टतः उनमें से कोई एक तो सरासर झूठ बोल रहा होता है। शीर्षस्थ लोगों का झूठ, उनकी निर्लज्जता विभ्रम फैलाती है, लोगों का विश्वास छीनती है।

आजादी के बाद का सातवाँ दशक चल रहा है। शिक्षा, पुलिस व्यवस्था, अपराध संहिता, नागरिक संहिता, आदि में बदलाव नहीं आये। अंग्रेजों के समय के अधिकांश कानून अभी तक लागू हैं। अधिकांश आयोगों की रिपोर्टें/अनुशंसाओं/सुझावों पर कोई कार्रवाई नहीं की गयी है। यहाँ तक कि उच्चतम न्यायालय के हस्तक्षेप करने पर भी सरकारें टालमटोल का रवैया नहीं छोड़तीं, जैसे पुलिस सुधार संबंधी मामले में हो रहा है। शिक्षा में सुधार के समस्त आयोगों की संस्तुतियाँ भी वैसे ही पड़ी हैं।

हमारी आज की शिक्षा का जोर सूचना देने पर है। चूँकि सूचनाओं का अम्बार समझ नहीं पैदा करता, उल्टे विभ्रम फैलाता है, इसलिए यह शिक्षा भार बनकर आती है, तथाकथित शिक्षितों को किसी काम लायक नहीं बनाती। सच कहा जाय तो यह उपनिवेशवादी मैकालेवादी शिक्षा इस देश में अब तक इसलिए चल रही है क्योंकि इस देश के संवेदन-विहीन सुविधाभोगी वर्ग का स्वार्थ जिसमें हमारे नेता तथा नौकरशाह प्रमुख हैं इसे बनाए रखने में है। शिक्षा-तंत्र तथा उससे जुड़े लोगों में बिकाऊ तथा राजनीतिकों के पिछलग्गू लोग भी हैं। शिक्षा को मुक्ति दिलानी चाहिए, जो वह नहीं करती। यह शिक्षा वेतनभोगी गुलाम बनाती है। शिक्षा के राजनीतिकरण से सार्थक बदलाव दिन-दिन कठिन होता जा रहा है।

हमारे बुद्धिजीवी किसी विषय पर बोलने या लिखने से नहीं हिचकिचाते। उनके इन कार्यों से पड़नेवाले दुष्प्रभावों की उन्हें बिल्कुल चिन्ता नहीं। आज देश के सामने इतनी अधिक समस्याएँ हैं, उनका शीघ्र निपटाया जाना भी अत्यन्त आवश्यक है। ऐसे में अनावश्यक विवादों से जैसा कि सेतु-समुद्रम से जुड़े सवाल पर, करुणानिधि जैसे वृद्ध राजनीतिक नेता के गलत बयानों से उपजा है, बचा जाना चाहिए। एक बात और 'सेक्युलरिज्म' के नाम पर हिन्दुओं की भावनाओं पर लगातार चोट करने की प्रवृत्ति बढ़ रही है। इसमें कुछ राजनीतिक दल, वामपंथी बुद्धिजीवी तथा पत्रकार, जाने-अनजाने, बढ़-चढ़कर हिस्सा लेते हैं। कहना न होगा कि इस गलत प्रवृत्ति पर शीघ्र लगाम लगाया जाना आवश्यक है। आखिर इस देश के 'सेक्युलरिस्ट' इस बात को कब समझेंगे कि 'सेक्युलरिज्म' की जड़ों के लगातार खोदने के उनके मूर्खतापूर्ण प्रयासों के बावजूद वह देश में इसलिए बच पा रहा है, क्योंकि इसकी जड़ें इस देश के लोकाचार, स्वभाव, प्रकृति, 'इथोस' से परिवर्द्धित, सम्पोषित हैं।

इस देश में कुछ वर्गों की घातक प्रवृत्ति, अपने देश के स्वार्थों/आवश्यकताओं की अनदेखी कर के रूस, अमेरिका, या अन्य देशों, जैसे पाकिस्तान, बंगलादेश, इरान, इराक, के स्वार्थों को प्रधानता देने की रही है। अभी-अभी भारत तथा अमेरिका के बीच आणविक समझौता हुआ है। भारत को आणविक स्रोतों से बिजली तथा अमरीकी/यूरोपीय प्रौद्योगिकी की आवश्यकता है। अतः समझौता हुआ। इससे पहले चीन तथा जापान ने भी इससे खराब शर्तों पर अमरीका से ऐसा ही समझौता किया था। इस समझौते ने विवाद का रूप ले लिया है। लगता है कि सरकार भी गिर सकती है। वामपंथियों का अमरीका-विरोध भी विवाद का एक कारण है। साथ ही उन्हें ऐसा लगता है कि भारत अमरीका, जापान, आस्ट्रेलिया आदि देशों से मिलकर चीन को घेरना चाहता है। वस्तुतः स्थिति बिल्कुल उल्टी है। चीन स्वयं लगातार अमरीका, आस्ट्रेलिया, दक्षिण-पूर्व एशिया के देशों आदि से संबंध प्रगाढ़ करने तथा भारत को अलग-थलग करने का प्रयत्न करता रहा है। वह पाकिस्तान को चोरी-छिपे आणविक जानकारी देता रहा है; बंगलादेश को अस्त्र-शस्त्र दे रहा है। भारत को घेरने के लिए

चीन, म्याँमार/बर्मा के कोको द्वीप में नौसैनिक अड्डा तथा बर्मा के सिच्चे तथा पाकिस्तान के ग्वदार में बन्दरगाह विकसित कर रहा है। चीन ने श्रीलंका के हम्बन्तौता बन्दरगाह के विकास के लिए 37.5 करोड़ डालर का ऋण दे रखा है; उसका हिन्द महासागर में मालद्वीप तथा सिचलिस में बन्दरगाहों की सुविधा प्राप्ति का प्रयत्न जारी है। भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सिस्ट) तथा अन्य वामपंथियों को इस बात को समझना चाहिए। अमेरिका-विरोध की भारी कीमत इस देश ने चुकाई है। फिर अमरीका से अच्छे संबंध का अर्थ चीन का विरोध तो कतई नहीं होता।

आज की स्थिति में कई बातें आवश्यक हैं, जैसे भारत की गलत राजनीतिक संस्कृति के प्रति नागरिक समज में जागरूकता पैदा करना; गलत अफवाह फैलाकर दंगा फैलाने, तोड़-फोड़ करने, पुलिस चौकियों को जलानेवालों की जानकारी प्राप्त कर उनके गलत कार्यों की रोक-थाम, राजनीतिक दलों द्वारा रोज-रोज कराये जा रहे 'बंद' आदि का विरोध आदि। राष्ट्र तथा समाज के प्रति गलत शत्रु-बोध पैदा करनेवाले व्यक्तियों, विचारधाराओं, संगठनों की पहचान करना भी आवश्यक है। साथ ही उनसे उत्पन्न खतरों के प्रति आश्वस्त का भाव पैदा करनेवाले व्यक्तियों, संगठनों की, चाहे वे सरकारी संगठन ही क्यों न हों, पहचान करायी जानी चाहिए।

एक मनीषी का बिछुड़ा :

प्रोफेसर राजमल बोरा नहीं रहे। 27 जुलाई 2007 को उनका निधन हो गया। वे भारतीय परम्परा के विद्वान-मनीषी थे। अपने जीवन के अन्त तक लिखते, पढ़ते, चिन्तन करते रहे; लिखने पढ़ने की योजनाएँ बनाते रहे। मध्यकालीन वीर काव्य, भाषा विज्ञान, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल तथा भारत वर्ष का प्राचीन एवं मध्यकालीन इतिहास उनके विशेष अध्ययन के क्षेत्र रहे। उन्होंने वीर काव्य, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, भाषा विज्ञान, निबन्ध एवं समीक्षा, जीवनी : आत्मकथा : संस्मरण तथा इतिहास की 35 पुस्तकें लिखीं; 16 पुस्तकें सम्पादित तथा चार अनुवादित कीं। उनकी चार पुस्तकें प्रेस में छपने की प्रतीक्षा में हैं। डॉ. बोरा डॉ. बाबा साहब अम्बेडकर मराठवाड़ा विश्वविद्यालय, औरंगाबाद के हिन्दी विभाग के अवकाश-प्राप्त प्रोफेसर तथा अध्यक्ष थे।

राजमल बोराजी से मैं कभी मिला नहीं। डायलॉग के प्रकाशन के बाद पिछले आठ वर्षों से उनके पत्र आते रहे, हमारी फोन पर बातें होती रहीं। उनके लेखन, पत्र-व्यवहार तथा बातचीत में उनकी सरलता, सहृदयता एवं शालीनता झलकती थी।

वे अपनी पुस्तक 'प्राकृत का इतिहास और भूगोल' के प्रकाशन के लिए चिन्तित थे। मैंने दो प्रकाशकों से बातें कीं। दोनों पुस्तक प्रकाशित करने को तैयार थे। वे उसे उनके पास भेज न पाये थे। वे इस पत्रिका के नियमित लेखक थे। उनका एक लेख इस अंक में छप रहा है, कुछ और छपेंगे। स्वास्थ्य खराब होने पर भी वे काँपते हाथों से लिखते रहे। लिखने की योजनाएँ बनाते रहे। मैं उनके जीवन के अन्तिम दिनों के दो पत्रों को उद्धृत कर रहा हूँ। पहला पत्र 12 जनवरी 2007 का है :

“आपकी फोन पर यथासमय बात हुई है। मैं अस्वस्थ था। इससे काम रुका रहा। मैंने अब काम पूरा कर लिया है। पुस्तक को क्रम दिया है। आरंभ के अनुक्रम के साथ-साथ विषय प्रवेश नये सिरे से लिखा है। लिखकर भी लगा कि पूरी बात समेट नहीं सका। कुछ और मास तथा वर्ष मिले तो अपूर्ण काम करता रहूँगा और यथासमय आपको भी भेजूँगा। मुझे अब भी विश्वास नहीं है कि पुस्तक छपेगी। मराठी में ही जब राजवाड़े का स्वागत नहीं हुआ तो मुझे कौन मानेगा? आपकी अभिरुचि को देखकर ही यह सामग्री भेज रहा हूँ। मैंने प्रकाशक को नहीं भेजी। आप ठीक देखें और आप कहेंगे तब भेजूँगा। अन्यथा लड़कों के पास छोड़ जाऊँगा। यह इसलिए लिख रहा हूँ कि काँपते हाथों से लिखना पड़ता है। सांध्य-वेला है। 75वाँ वर्ष चल रहा है। शूगर बढ़ी हुई है। हार्ट का ऑपरेशन हुए 14 साल पूरे हो गए। गोलियों और इंसुलीन पर गाड़ी चल रही है। कभी तो बात कर लेता हूँ और कभी तो चुप रहना पड़ता है। साँस तो आती-जाती रहती है। नये वर्ष का पहला पत्र आपको ही लिख रहा हूँ।

आप चाहें तो मेरा विषय प्रवेश छाप सकते हैं। सम्पादक का सहमत होना आवश्यक नहीं। वैदिक भाषा के उद्भव की कथा आप छापना चाहें तो भेजूँगा। दो-तीन जगह भेजा। कोई प्रतिक्रिया नहीं, सब चुप हैं। ‘गुणाद्वय की बृहत्कथा’ की प्रतिक्रिया में श्री विष्णु प्रभाकर का पत्र मिला था। उसके बाद का अंक मुझे नहीं मिला। उसके बाद का अंक मिलना है। आपके उत्तर की प्रतीक्षा रहेगी। स्नेह और कृपा बनाए रखें।

सादर अभिवादन सहित

संलग्न : अनुक्रम तथा विषय प्रवेश

पुस्तक का नाम : प्राकृत का इतिहास और भूगोल

वैदिक एवं पूर्व वैदिक संस्कृत : संस्कृत भाषा के उद्भव की कथा
लेख संलग्न है। अब तक छपा नहीं है।

राजमल बोरा”

दूसरा पत्र उनकी मृत्यु के मात्र 29 दिन पहले 28 जून 2007 को लिखा गया था। लगता है कि उन्हें अपने स्वर्गवास का आभास हो गया था।

“इन दिनों जनवरी से अब तक तीन-चार आलेख लिख लिये। किसी को भी अभी तक कहीं भेजा नहीं है। उनमें से एक सिद्ध सरहपाद कृत ‘दोहा कोश’ इस पत्र के साथ आपको ‘चिन्तन-सृजन’ हेतु प्रकाशनार्थ भेज रहा हूँ। आप उचित समझें तो प्रकाशित करें।

समीक्षार्थ ‘भारत की भाषाएँ और साहित्य : सोलहवीं शताब्दी’ तथा ‘नामवरसिंह : वाद-विवाद और संवाद’ पुस्तकें अलग से भेजी हैं। दोनों ही इसी वर्ष प्रकाशित हुई हैं। प्राकृत भाषा से सम्बन्धित पुस्तक उन्हीं के पास प्रकाशनार्थ (मिलिन्द प्रकाशन, हैदराबाद) पड़ी हुई है।

स्वास्थ्य ठीक नहीं रहता। कार्य की गति धीमी हो गई है। कभी-कभी तो कार्य हो नहीं पाता। उक्त पुस्तक के बाद ‘भीली’ भाषा पर लेख लिखा है। नाग भाषा परिवार पर पुनः पढ़ रहा हूँ। इसी तरह कोल भाषा परिवार पर भी विचार करूँगा। आपने शकों के सम्बन्ध में राहुल सांकृत्यायन का उद्धरण काट दिया था। ठीक ही किया। इन दिनों शकों की नई जानकारी मुझे मिल गई है। आप समय निकाल कर मेरी भूलें बतलाएँ तो मैं अपने को ठीक करने का प्रयत्न करता रहूँगा।

डायलॉग के अंक तथा चिन्तन-सृजन के अंक निरन्तर मिलते हैं। अभिरुचि से पढ़ता हूँ। अंकों के सम्बन्ध में पढ़कर लिखना भी चाहता हूँ किन्तु अब पहले की तरह लिख नहीं पाता। मुझे शंकर शरण के लेख बहुत अच्छे लगते हैं। वे दोनों में, डायलॉग और चिन्तन-सृजन में, लिखते हैं। राजनीति को समझ कर उस पर सामयिक टिप्पणियाँ लिखना बड़ा कठिन और जोखिम पूर्ण काम है। किन्तु शंकर शरण सहज में लिख देते हैं। आपके सम्पादकीय ध्यान से पढ़ता हूँ। आपकी सामयिक संकेत और टिप्पणियाँ आकर्षक रहती हैं। समय की गति को आप भी पहचानते हैं।

आपको पत्र लिखने की आवश्यकता नहीं। आवश्यक हो या समझो तो मुझे फोन कर बतला दीजिएगा।

आप इस ओर एल्लोरा-अजंता देखने आएँ तो मेरी भेंट होगी। मैं अब अधिक समय नहीं रह सकता। कृपा भाव रखें।”

प्रोफेसर राजमल बोरा पुरानी पीढ़ी के मूल्यों के साथ जिए। रामविलास शर्मा तथा निर्मल वर्मा की तरह मृत्यु के दिनों तक कर्मठ बने रहे। ईश्वर उनकी आत्मा को शान्ति प्रदान करें।

ब्रज बिहारी कुमार

देवनागरी लिपि

आचार्य रघुवीर*

देवनागरी हमारी राष्ट्रलिपि है। पिछली 10 शताब्दियों से यह लगभग इसी रूप में चली आई है। यदि हम और 1500 वर्ष पूर्व चले जाएँ तो हम भारत की प्राचीनतम लिपि ब्राह्मी तक पहुँच जाते हैं। लंका के भी पुरातन शिलालेख ब्राह्मी में ही उपलब्ध होते हैं। ब्राह्मी में लिखे हुए अशोक के शिलालेख नेपाल, उत्तर प्रदेश, उड़ीसा, गुजरात और महीशूर आदि में उपलब्ध हुए हैं।

2500 वर्षों के इतिहास में ब्राह्मी लिपि के अनेक रूप बने। गुप्तकाल तक इन रूपों में बहुत विषमता नहीं आई। किन्तु गुप्तकाल के पाँच-छः शताब्दियों के पश्चात् इन रूपों में इतना अन्तर आ गया कि एक लिपि को जानने वाला व्यक्ति दूसरी लिपि को नहीं पढ़ सकता था।

10वीं शताब्दी से भारत की लिपियों के आधुनिक रूप का प्रारम्भ हुआ। किन्तु कन्नड़ और तेलुगु का भेद बहुत अर्वाचीन है। शिरोरेखाहीन गुजराती का आविष्कार तो 19वीं शताब्दी में किया गया। उडिया लिपि भी बहुत पुरानी नहीं। इनके विपरीत अनेकों भारतीय प्राचीन लिपियाँ धीरे-धीरे अप्रयोग के कारण लुप्त हो गईं जैसे सिन्धी। कश्मीर में शारदा का प्रयोग आज केवल ज्योतिषी करते हैं।

भारत की आधुनिक राजनैतिक सीमाएँ भारतीय लिपियों की सीमाएँ नहीं हैं। भारत के उत्तर में तिब्बत देश की लिपि का आविष्कार भारतीय लिपि से किया गया। आज भी यह लिपि नागरी से इतना अधिक साम्य रखती है कि नागरी जानने वाला व्यक्ति इसको आधे घण्टे में पढ़ना प्रारम्भ कर देता है।

चीन की अपनी लिपि संसार की विचित्रतम लिपि है। इसमें स्वर और व्यञ्जनों के आधार से शब्द नहीं लिखे जाते। आधारभूत 214 चिह्न हैं। ये चित्ररूप मूलाक्षर हैं। इन मूलाक्षरों के अतिरिक्त अन्य सहस्रों अक्षर हैं जिनका मूलाक्षरों से संयोग करके प्रत्येक शब्द लिखा जाता है। सामान्य रूप से ऐसा समझना चाहिए कि प्रत्येक शब्द के लिए नया चित्र जानना और बनाना पड़ता है। चीनी लिपि ब्राह्मी जितनी ही प्राचीन है किन्तु पिछले 2000 वर्षों में इसमें विशेषान्तर नहीं हुआ। बुद्ध-धर्म के सम्पर्क से

* यह लेख पचास से अधिक वर्ष पूर्व हमारे मनीषी परम विद्वान प्रोफेसर (डॉ.) रघुवीर द्वारा लिखा गया था।

With Best Compliments
from
VASUNDHARA IMPEX (P) LTD.
Administrative Office
LG-69, World Trade Centre,
Babar Lane, New Delhi-110001

Regd. Office
1/3575, Netaji Subhash Marg, Darya Ganj,
New Delhi-110002 Phone Off. 3277883, 3711848

भारतीय लिपि चीन में गई और बौद्ध तथा तान्त्रिक मन्त्रों के लिखने के लिए चीन में बौद्ध भिक्षु और आचार्य भारतीय लिपि का प्रयोग करते रहे। 8वीं शताब्दी के पश्चात् भारत का उत्तरपश्चिम मार्ग मुसलमानों ने रोकना आरम्भ किया और 11वीं शताब्दी में यह मार्ग लगभग सर्वथा रुक गया। इसलिए चीन के विहारों में आज प्रयुक्त भारतीय लिपि 7वीं-8वीं शताब्दी के समीप की लिपि है। एकाध घण्टा परिश्रम करने के पश्चात् देवनागरी के ज्ञाता इसको अच्छी प्रकार पढ़ सकते हैं।

इस लिपि का नाम सिद्धम् लिपि है। इसका प्रयोग चीन के गाँव-गाँव में होता रहा है। मंचूरिया और कोरिया होकर सिद्धम् लिपि ने जापान में प्रवेश किया। जापान में इसका प्रयोग स्थान-स्थान पर मिलता है। कोई मन्दिर ऐसा नहीं जहाँ अवलोकितेश्वर का वाची 'अ' आँखों को आकर्षित न करता हो।

मध्येशिया 10वीं शताब्दी तक अनेक भारतीय लिपियों का प्रयोग करता रहा। इस्लाम के प्रसार के पश्चात् वहाँ अरबी और फारसी आरम्भ हुई। भारत के पूर्व में बर्मा की लिपि ब्राह्मी की पुत्री है। बर्मा से पूर्व की ओर श्याम, कम्बोज आदि की लिपियाँ देवनागरी की बहिर्ने हैं। किन्तु पिछले 800 वर्षों से सम्पर्क न होने के कारण इनके और देवनागरी के रूप में समता ढूँढनी पड़ती है, स्थूल दृष्टि से दिखाई नहीं पड़ती।

छठी से बारहवीं शताब्दी तक कम्बोज देश की राष्ट्रभाषा संस्कृत थी। यह तथ्य भारतवर्ष के एक-एक बालक और बालिका को पता होना चाहिए। बारहवीं शताब्दी में भारतवर्ष स्वयं अपनी स्वतन्त्रता खो बैठा और तभी से उसके विदेशी सम्पर्क बन्द हुए।

जावा, सुमात्रा, बलि आदि द्वीपों की लिपियाँ भी ब्राह्मी की पुत्रियाँ और देवनागरी की बहिर्ने हैं। जावा की 9वीं शताब्दी की पाषाणमूर्तियों पर देवनागरी खुदी हुई मिलती है। देवनागरी का यह रूप बिहार से गया हुआ प्रतीत होता है। भारतवर्ष के अनेकों साम्राज्यों की जन्मदात्री मगध की वीरभूमि रही है।

ब्राह्मी और उसकी पुत्रियों के विस्तार का सिंहावलोकन करने के पश्चात् हम इन लिपियों के विशेष लक्षणों की ओर आते हैं। ये लक्षण भारतीय लिपियों की आत्मा हैं। इनको बनाए रखना अपनी आत्मा की रक्षा करना है।

सर्वप्रथम वर्णमाला का स्वर और व्यञ्जनों में विभाजन तथा इनका स्थान और प्रयत्न के अनुकूल क्रमविन्यास। इस विशेषता को बुद्धिपूर्वक ग्रहण करने के लिए हमें दूसरी वर्ण-मालाओं की ओर दृष्टिपात करना होगा। संसार में मुख्य रूप से चीनी-जापानी वर्ग के अतिरिक्त अरबी-फारसी तथा यूनानी-रोमीय वर्ग हैं।

अरबी-फारसी और यूनानी-रोमीय वर्गों की वर्णमालाएँ सर्वथा ही वैज्ञानिक क्रमहीन हैं। स्वर और व्यञ्जनों का कोई क्रम नहीं।

इन लिपियों में इतनी विभिन्न भाषाएँ लिखी जा रही हैं कि वैज्ञानिक तथा पूर्ण समालोचना के लिए प्रत्येक लिपि और भाषा को अलग लेना चाहिए। आज इस लेख

के लिए हम पश्तो से लेकर आङ्गल तक सभी भाषाओं को न लेकर केवल दिग्दर्शन के लिए रोमीय लिपि और आङ्गल-भाषा को ही लेंगे।

ह्रस्व और दीर्घ का स्वरभेद करने के लिए भी रोमीय लिपि में आङ्गल-भाषियों को अनेक कठिनाइयाँ पड़ती हैं। दीर्घ ई के लिए feet में ee, sieve में ie, beat में ea, event में प्रथम e, surfeit में ei, oenology 'मदिरा-विज्ञान' में oe, aegis 'शरण' में ae.

ध्वनिविज्ञान के विद्यार्थी भारतीय वर्णमालाओं के क्रम के महत्त्व को भलीभांति जानते हैं। विषयान्तर होने से यहाँ इसका निर्देशमात्र करना पर्याप्त है। अल्पप्राण और महाप्राण स्पर्श वर्ण हमारी लिपियों की विशेषताएँ हैं। यूनानी में भी ख थ फ विद्यमान थे। हमारे यहाँ अघोष और घोषवान् दोनों प्रकार के ख घ, छ भ, ठ ढ, थ ध, फ भ विद्यमान हैं। यह पूर्ण माला अन्य लिपियों में विद्यमान नहीं। इसी प्रकार कण्ठ्य, तालव्य, और मूर्धन्य नासिक्य वर्ण हमारी विशेषता हैं। क-वर्ग आदि पाँचों वर्गों के साथ अपना विशेष अनुनासिक केवल भारत की लिपियों में विद्यमान है। इनमें से ज की व्यवस्था स्पेन आदि की भाषाओं में भी करनी पड़ी। किन्तु आङ्गल और फ्रेंच आदि में तो g आदि के साहचर्य से इनकी अभिव्यक्ति की गई है। king में ng न और ग का वाची नहीं किन्तु शुद्ध ड का वाची है। इस सिद्धान्त को न जानकर आज हिन्दी में किङ् (king) और विण्ड् (wind) के स्थान पर किन्ग और विन्ड लिखे जा रहे हैं (भला ड के साथ न् कैसे)। हिन्दी जनता समझती है कि अंग्रेजी में केवल दो ही अनुनासिक न और म हैं। यह उनकी रोमीय लिपि का दोष है। किन्तु देवनागरी में लिखते समय तो हमको उनका लिप्यन्तर न करके उच्चारण का द्योतन ही करना चाहिए। एवमेव ghost को उच्चारण के अनुसार गोस्ट, न कि घोस्ट लिखना चाहिए।

भारतीय लिपियों की दूसरी विशेषता स्वरमात्राएँ हैं। शब्द के आरम्भ में तथा स्वर के पश्चात् तो स्वर का पूर्ण रूप लिखा जाता है किन्तु व्यञ्जन के पश्चात् स्वर का पूर्ण रूप न लिखकर उसका छोटा सा प्रतीक मात्रा के रूप में लिखा जाता है। ये मात्राएँ ऊपर नीचे तथा पीछे और आगे चारों ओर लगती हैं। इन मात्राओं के प्रयोग से भारतीय लिपियों में विशेष गुण आया है। लिखने में जो बचत हुई है उसका अनुमान आप इस बात से कर सकते हैं कि महाभारत जैसा शब्द अंग्रेजी में MAHABHARATA ग्यारह वर्णों से लिखा जा रहा है। भारतीय लिपि में मात्रा व्यञ्जन के साथ मिल जाती है। अतः नागरी में ग्यारह के स्थान में केवल पाँच लिखित चिह्न रह गए (देवनागरी के एक वर्ण भ को आङ्गल में दो वर्णों से द्योतन करना पड़ा)।

हमारी भाषाओं में ह्रस्व अ की प्रधानता है। इसलिए इसकी मात्रा न रखकर केवल इसके अभाव का ही द्योतन करने के लिए भारतीय लिपियों ने विशेष व्यवस्था की है।

जब एक व्यंजन के परे दूसरा व्यंजन हो तब ब्राह्मी लिपि में दूसरा व्यंजन पहिले के नीचे लिखा जाता था। यह पद्धति ब्राह्मी की अनेक पुत्रियों में अभी तक विद्यमान है। इस पद्धति से भी जहाँ स्वर के अभाव का स्पष्ट निर्देश है वहाँ स्थान की बचत भी होती है।

आङ्गल की वैज्ञानिक परिभाषा में भारतीय लिपियों को syllabic scripts कहा जाता है। syllable का अर्थ है एक अथवा अनेक व्यञ्जन और उसके साथ एक स्वर। हमारी लिपि केवल एक-एक वर्ण लिखने में ही समर्थ नहीं किन्तु हमारी लिपि का एकक अक्षर (syllable) है। पारिभाषिक प्रयोग में syllable को अक्षर कहते हैं। सो हमारी लिपि केवल वर्णात्मक नहीं अक्षरात्मक है। इसका अर्थ हम पूर्वनिर्दिष्ट उदाहरण से स्पष्ट करेंगे। यदि हमारी लिपि वर्णात्मक होती तो महाभारत इस प्रकार लिखा जाता अ ह आ भ आ र अ त अ।

चालीस-पचास वर्षों से भारत में मुद्रलिख (typewriter) आए।

[आगे चलने से पूर्व मैं शब्द की व्याख्या कर दूँ। नाम में यन्त्र की विशेषता निहित है। लिखने का जो काम व्यक्ति कलम से करता था, वह इस यन्त्र द्वारा मुद्र अथवा छाप लगाने वाले अक्षर से होने लगा। अतः इसका नाम मुद्रलिख “मुद्र से लिखने वाला” अथवा typewriter हुआ। थाइदेश की भाषा में इसको अंगुलिलिख कहते हैं। अंगुलिलिख फ्रेंच भाषा के dactylograph (dactylo-अंगुलि, graph लिख) का प्रतिशब्द है।]

कार्यालयों में इनका प्रयोग अधिकाधिक होने लगा। इनके कारण कार्य में अनेक प्रकार की सुविधाएँ हुईंशीघ्रता, सुवाच्यता, तथा अनेक प्रतिलिपिता आदि।

हिन्दीभाषियों को भी इस यन्त्र के प्रयोग की आवश्यकता अनुभव होने लगी। अंग्रेज मुद्रलिख निर्माताओं ने अंग्रेजी अक्षरों के स्थान में नागरी के अक्षर लगा दिए। किन्तु ये अक्षर संख्या में आवश्यकता के लिए पर्याप्त न थे। यन्त्रों के निर्माताओं ने देवनागरी के पूर्ण अक्षरों को यन्त्रों में स्थान देने के प्रति अक्षमता प्रकट की।

हिन्दी प्रयोक्ता यन्त्र-संसार से अधिकांश अपरिचित थे। उन्होंने विदेशी यन्त्र निर्माताओं की अक्षमता को स्थायी और अटल समझा। हिन्दी संसार में सामान्यतः विचार फैल गया अथवा फैलाया गया कि नागरी लिपि में परिवर्तन होना आवश्यक है।

मुद्र लिखों के पश्चात् एकमुद्र (monotype), तदनु पंक्तिमुद्र (linotype) यन्त्रों के आयात से यह समस्या और भी जटिल दिखाई पड़ी। इस क्षेत्र में अन्तिम आविष्कार दूरमुद्रक (teleprinter) है, जिसमें केवल 64 अक्षरों तथा चिह्नों के स्थान हैं।

इस प्रसंग में आशुलिपि (shorthand) और प्रवाही लिपि (cursive hand, शिकस्ता) का उल्लेख भी अनिवार्य है। प्रवाही लिपि के लिए हिन्दी जगत् ने एक ओर बंगीय पद्धति का अनुसरण किया और दूसरी ओर गुजराती की शिरोरेखा-हीनता का। आशु लिपि के लिए पिट्मैन-पद्धति के दो-तीन रूपान्तर भी किए गए।

किन्तु यन्त्रों के क्षेत्र में कोई सन्तोषजनक आविष्कार नहीं हुआ। भारतीय वैज्ञानिक अधिकांश पुस्तकों का अध्ययन करते रहे हैं। यन्त्रों के निर्माण में उनकी दक्षता और अनुभव बहुत सीमित हैं। विश्वविद्यालयों का यन्त्रनिर्माण से कोई सम्बन्ध ही नहीं। प्रत्येक वैज्ञानिक प्रयोगशाला में यन्त्र विदेश से बनकर आ रहे हैं। भारतीयों को यह उत्साह ही नहीं कि एक-एक यन्त्र हमारे हाथ का बना हुआ हो। विज्ञान और यन्त्र उनके जीवन का लक्ष्य नहीं। ये केवल उदरपूर्ति के साधन हैं। फिर भी दस-बीस भारतीयों ने इस ओर अपना समय दिया। इनको शासन अथवा व्यापारियों का सहारा न था। विदेशी यन्त्रों में ही इन्होंने एक-दो छोटे-छोटे परिवर्तन करके नागरी लिपि के लिए इनको अधिक उपयुक्त बनाने का यत्न किया। किन्तु मूल समस्या वैसी-की-वैसी खड़ी रही। विदेशी मुद्रलिखों में 84 से 92 वर्णों तक का स्थान है। इससे अधिक का नहीं। किन्तु नागरी लिपि के पूर्ण प्रयोग के लिए हमको अधिक वर्णों की व्यवस्था चाहिए। जर्मनी में इस दृष्टि से नागरी नाम का एक यन्त्र बनाया गया, किन्तु वह इतना बेढंगा था कि चल न सका। तत्पश्चात् उस दिशा में यत्न बन्द हो गए और एक मुद्र तथा पंक्तिमुद्र जैसे महँगे यन्त्रों के आयात से नागरी लिपि को ही सुकेड़ने का यत्न किया जाने लगा। विदेशी व्यापार को यह लाभकारी था।

साहित्य-समितियों के अतिरिक्त शासनों ने भी इस ओर ध्यान दिया। मुम्बई, उत्तर प्रदेश और केन्द्र के शासनों की ओर से समितियाँ नियुक्त हुईं। देवनागरी के परिवर्तन पर मासों तक विचार किया गया। परिवर्तन की दिशा संकोच की ओर गई, विस्तार की ओर नहीं। और इस परिवर्तन को परिवर्तन अथवा संकोच न कहकर सुधार का नाम दिया गया, जिसका अर्थ यह हुआ कि जो परिवर्तन किया जा रहा है वह दोषों का निवारण है। वास्तव में दोष अथवा अदोष का प्रश्न ही नहीं है।

विदेशियों ने अपनी 26 अक्षरों वाली लिपि के लिए 64, 88, 90 और 252 वर्णों तक के यन्त्र बनाए। हमें अपनी 45 शुद्ध वर्णों की तथा अनेक संयुक्त वर्णों की लिपि के लिए 120 से आरम्भ करके 800 तक वर्णों वाले यन्त्रों का आविष्कार तथा निर्माण करना चाहिए। हम इस पर निर्भर क्यों रहें कि विदेशी ही निर्माण करें। चीनी-जापानी लिपि अत्यधिक विस्तृत है। उन्होंने अपना मुद्रलिख 3000 अक्षरों वाला बनाया है। दर्शनीय यन्त्र है। मूल्य केवल 500 रुपये।

किसी भी समिति ने शासन को अभिस्ताव नहीं किया कि भारतीय लिपियों के लिए मुद्रलिख आदि यन्त्र हमारी आवश्यकताओं के अनुकूल हों और उनके आविष्कार के लिए भारतीय शासन की ओर से वैज्ञानिक नियुक्त किए जाएँ और अपेक्षित मात्रा में भारत में ही उनका निर्माण हो। भारत का कोटिशः धन विदेशों में जाने से बचे और भारत में एक नए धंधे का आरम्भ हो।

लिपि का संकोचन किस प्रकार हो जिससे कि विदेशों में निर्मित यन्त्र यहाँ यथापूर्व बिकते रहें, इसी का आग्रह किया गया। केन्द्रीय समिति ने केवल एक स्वर

अ के रूप को रखकर अन्य स्वरों के स्वतन्त्र रूपों को उड़ाने का आग्रह किया। मनोविज्ञान, बच्चों, जंगलियों और ग्रामीणों की शिक्षा आदि अनेकों कारण दिए गए। ख और र तथा व में अन्तर होना ही चाहिए, इसके लिए भी सुझाव आए। र का आधुनिक रूप त्याग दिया जाए। क्ष, ज्ञ, त्र और अन्य संयुक्त वर्णों के स्वतन्त्र अथवा पिण्डीभूत रूपों का बहिष्कार हो, इत्यादि परिवर्तन अथवा सुधार आवश्यक बतलाए गए।

स्वरात्राएँ अक्षरों के ऊपर अथवा नीचे न लगे, केवल आगे की ओर लगे। ह्रस्व इ की मात्रा बाईं ओर से दाईं ओर हटा दी जाए। ये विचार बलपूर्वक रखे गए।

इन सबका परिणाम क्या होगा यह किसी ने नहीं विचारा।

साहित्य की दृष्टि से परिणाम यह होगा कि आज तक जो साहित्य नागरी लिपि में प्रकाशित हुआ है वह भावी पीढ़ियों के लिए अपाठ्य हो जाएगा। यह परिणाम भयंकर है। इसी भयंकरता के कारण योरोप की किसी लिपि में परिवर्तन का विचार भी किसी के मन में नहीं आता। अनेक दोषपूर्ण होते हुए भी अपने ज्ञान-विज्ञान की परम्परा को अविच्छिन्न रखने के लिए लिपि को जैसे का तैसा रहने दिया जा रहा है। धनी से धनी और उद्योगी से उद्योगी शासन और जनता भी 150 वर्ष के प्रकाशित सम्पूर्ण साहित्य को दोबारा नई लिपि में मुद्रण करने में असमर्थ होगी।

देवनागरी केवल हिन्दी की ही लिपि नहीं। इसमें नेपाली, मराठी और प्राकृत तथा संस्कृत के ग्रन्थ भी एक सहस्र वर्षों से लिखे जाते रहे हैं। नागरी का अस्तित्व केवल हिन्दी पर निर्भर नहीं।

आश्चर्य की बात है कि जितने आघात नागरी पर हुए हैं वे भारत की अन्य लिपियों पर नहीं हुए। यदि कुछ समय के लिए अथवा किसी विशेष प्रयोजन के लिए कोई परिवर्तन कभी लिपि में किया भी जाता है तो यह नियम तो नहीं बनाया जाता कि वह सदाकालिक और सार्वत्रिक हो।

ऐतिहासिक दृष्टि से नागरी लिपि अकेली नहीं है। वह एक अभिजात कुल की लिपि है। उसका सम्बन्ध गौरव और बंधुता को प्रकट करने वाला है। ह्रस्व इ की मात्रा (ि) जैसी नागरी में है वैसी ही गुरुमुखी, गुजराती और बंगला में है। इसी प्रकार संयुक्त वर्णों की पद्धति लगभग सभी स्वदेशी ब्राह्मी की पुत्रियों में विद्यमान है।

अर्थिक दृष्टि से लिपि के परिवर्तन का अर्थ यह होगा कि प्रत्येक मुद्रणालय की विद्यमान सामग्री परिवर्तन के अंश तक व्यर्थ हो जाएगी।

जिस समय नागरी के भक्त अपनी लिपि को भारत की एकमात्र लिपि बनाने का विचार कर रहे हैं उस समय यह और भी अधिक आवश्यक है कि नागरी के स्वरूप को विकृत न किया जाए। नागरी लिपि का प्रचार संस्कृत के द्वारा भारत के सभी प्रान्तों में हुआ है। इसका प्रचार भारत से बाहर अनेक सभ्य देशों के विद्वानों में है। नागरी के मुद्रणालय जापान, रूस, जर्मनी, इटली, फ्रांस, हॉलैण्ड, इंग्लैण्ड आदि

पश्चिमी देशों में विद्यमान हैं। इस विस्तार को हम नागरी के भावी प्रचार के लिए पूर्णतया प्रयोग में लाएँ। इसकी अवहेलना न करें।

पिछले नवम्बर मास में उत्तर प्रदेश के मुख्यमंत्री पण्डित गोविन्द बल्लभ जी पन्त ने अखिल भारतवर्षीय सम्मेलन बुलाया। मुम्बई, बंगाल, हैदराबाद, मध्यप्रदेश, अजमेर, राजस्थान आदि के मुख्यमंत्रियों ने भाग लिया। अनेक विद्वान् भी सम्मिलित हुए। डॉ. राधाकृष्णन् ने सभापति का आसन ग्रहण किया। दो दिन की चर्चा के पश्चात् अनेक छोटे-मोटे निश्चय किए गए। कुछ नकारात्मक, कुछ स्वीकारात्मक।

मराठी और हिन्दी क्षेत्रों में प्रयुक्त भिन्न रूपों में से केवल एक-एक रूप लिया गया। जैसे अ और झ मराठी के लिए गए। इसी प्रकार 1, 5, 8, 9 अंकों के रूपों का भी निश्चय किया गया।

ह्रस्व इ की मात्रा (ि) बाईं ओर से हटाकर दाईं ओर कर दी गई और उसका रूप तमिल के समान पाईरहित बनाया गया। यह रूप ब्राह्मी की अनेक पुत्रियों में मिलता है। आज दूरतम बलिद्वीप में भी यही रूप विद्यमान है। किन्तु इस परिवर्तन से नागरी लिपि को कोई लाभ हुआ हो सो सन्दिग्ध है। किन्तु परिवर्तन तो कुछ न कुछ करना ही था, इस छिपी हुई मनोवृत्ति का यह परिणाम है, अथवा इस मनोभावना की सांत्वना है।

संयुक्त व्यञ्जनों के सम्बन्ध में पाईहीन वर्णों के नीचे हल्चिह्न लगाने का निश्चय किया गया। यदि यह निश्चय वैकल्पिक होता तब तो यह भारतीय परम्परा के अनुकूल था, किन्तु यह हठ करना कि द्वार के स्थान में द्वार, राजेन्द्रप्रसाद के स्थान में राजेन्द्र प्रसाद ही लिखा जावे सो अपनी लिपि के इतिहास और उसकी आत्मा के विरुद्ध है। जो उच्चारणदोष उर्दू जानने वालों के हिन्दी उच्चारण में होता है उसी दोष की नींव अब डाली जा रही है। जिस प्रकार पश्चात् और जगत् के अन्तिम व्यञ्जन का हल्चिह्न प्रायः देखने में नहीं आता, उसी प्रकार द्वार दवार बन जाएगा और पंजाबियों के समान लोग राजेन्द्र पढ़ा और बोला करेंगे। अरबी लिपि के अनेक स्वरचिह्न फारसी लिपि में आकर लुप्त हो गए। 'हल्' चिह्न की भी वही दशा होती हुई दिखाई पड़ती है।

परिवर्तनों का सबसे बड़ा दोष यह है कि अब तक जो यत्न यन्त्रों को नागरी लिपि के अनुकूल बनाने के लिए हो रहे थे, वे यत्न इस सम्मेलन के पश्चात् न होंगे ऐसी आशंका है। हम यन्त्रयुग में रहते अवश्य हैं। किन्तु अभी तक हम इसकी आत्मा से कौसों दूर हैं। हमने यन्त्रों पर विजय प्राप्त करनी है। लिपि के छोटे से क्षेत्र में हमने पराजय स्वीकार की।

मुझे आशा है और विश्वास है कि भारतीय जनता आज नहीं तो कल अपनी लिपि के ऐतिहासिक महत्त्व को अनुभव करेगी और तदनु रूप यन्त्रों का आविष्कार ही

उसको सन्तुष्ट करेगा। नागरी लिपि के यन्त्र भारत और एशिया की अन्य लिपियों के लिए भी उपयुक्त सिद्ध होंगे। रोमीय लिपि के लिए बनाए हुए यन्त्रों की गति केवल आगे की ओर है, ऊपर, नीचे और पीछे की ओर नहीं। चतुर्मुखी गति वाले यन्त्र समस्त संसार के लिए उपकारी होंगे। इनका मूल्य और परिमाण आजकल के यन्त्रों की अपेक्षा बड़ा न होना चाहिए। इनकी गति भी न्यून न होनी चाहिए। यन्त्रों से अपरिचित जगत् को यह माँग अटपटी सी लगती है। वे इसको समझने में असमर्थ हैं। किन्तु आविष्कार के इतिहास का अध्ययन करनेवाले व्यक्तियों के लिए यह केवल स्फूर्तिमात्र है।

चीन और जापान में नागरी का रूपान्तर 'सिद्धम्' लिपि

हमारे पाठकों को यह तो ज्ञात ही है कि चीन, भोट (अथवा तिब्बत), मंगोलिया मंचूरिया, कोरिया और जापान बुद्ध-धर्मानुयायी देश रहे हैं। विक्रम की प्रथम शताब्दी से पूर्व ही महाराजा धर्माशोक ने चारों दिशाओं में बौद्ध धर्माचार्यों को धर्मचक्र-प्रवर्तनार्थ भेजा था। उत्तर भारत में कश्मीर, उद्यान (आधुनिक चित्राल और स्वात) गांधार तथा इनसे ऊपर सिन्क्याङ्ग (चीनी तुर्कस्थान) में, धर्माशोक के काल में अथवा उसके कुछ पश्चात्, विशाल बौद्ध विहारों की स्थापना हो चुकी थी। कुस्तन (आधुनिक खोतान) तो भारतीय भाषा, साहित्य, आयुर्वेद, कला आदि के प्रसार का दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दी तक केन्द्र रहा।

चीन में महाराजाधिराजों के आदेश से भारतीय सूत्रों, शास्त्रों के विस्तृत अनुवादों की परम्परा चलाई गई। प्रथम शताब्दी में काश्यप मातङ्ग से आरम्भ करके चौदहवीं शताब्दी तक संस्कृत ग्रन्थों की चीनी में अनुवाद करने की परम्परा निरन्तर चलती रही। सैकड़ों भारतीय आचार्य और पण्डितों के वर्णन चीनी इतिहासों में अभी तक विद्यमान हैं।

घोड़ों और ऊँटों पर लादकर भारतीय तालपत्र तथा भूर्जपत्र पर लिखे धर्मग्रन्थ उत्तर और दक्षिण चीन की राजधानियों में ले जाए जाते थे। भारतीय आचार्य और चीनी पण्डित परस्पर परामर्श से अनुवाद-कार्य सम्पन्न करते थे।

सातवीं शताब्दी के पश्चात् भारतीय ग्रन्थों का अनुवाद भोट भाषा में भी आरम्भ हुआ। भोट द्वारा हमारा साहित्य मंगोलिया में पहुँचा तथा चीन द्वारा कोरिया और जापान में।

अन्य तो सभी प्रकार के धार्मिक ग्रन्थों का भारतीय और चीनी विद्वानों ने मिलकर अनुवाद किया। यहाँ तक कि बुद्ध, धर्म, संघ, विनय आदि शब्दों को भी बुद्धिगम्य बनाने के लिए अनूदित किया गया। उदाहरण के लिए बुद्ध का अनुवाद ऐसे चीनी अक्षरों से किया गया जिनका अर्थ है : “नहीं मनुष्य”, अर्थात् जो मनुष्य नहीं किन्तु उनसे ऊपर है।

किन्तु जब चीन में मन्त्रयान का प्रचार हुआ और मन्त्रों के अर्थों में नहीं, किन्तु मन्त्रों के उच्चारण में सिद्धि मानी गई, तब चीनियों, जापानियों आदि को भारतीय लिपि का आश्रय लेना पड़ा। इस लिपि का बड़ा रोचक इतिहास है। इस इतिहास का हम प्रथम बार संकलन और अध्ययन कर रहे हैं। भोट, चीन, जापान, मंगोलिया आदि में छोटे-मोटे अनेकों ग्रन्थों, जिनमें छठी, सातवीं शताब्दी की भारतीय लिपि का विस्तृत वर्णन दिया गया है, केवल वर्णन ही नहीं, स्वर, व्यञ्जन तथा संयुक्त अक्षरों के स्वरूप लिखने की शिक्षा और पद्धति भी दी गई है।

इस लिपि का नाम 'सिद्धम्' है।

ग्यारहवीं शताब्दी के प्रसिद्ध अरबी यात्री अल्वेरूनी ने अपने भारत विवरण में लिखा है

“सामान्यतः प्रयोग होने वाली वर्णमाला का नाम सिद्धम् है। कुछ का विचार है कि इसका उद्गम-देश कश्मीर है क्योंकि कश्मीर की जनता ही इसका प्रयोग करती है। इसका प्रयोग वाराणसी में भी होता है। वाराणसी और कश्मीर भारतीय विद्याओं के क्षेत्र हैं। यही लिपि कान्यकुब्ज के आसपास के आर्यावर्त देश में प्रयोग की जाती है। मालव में एक दूसरी लिपि का प्रयोग होता है जो सिद्धमातृका से वर्णशैली में भिन्न है। इसका नाम नागर लिपि है। सिन्धु में प्रयुक्त लिपि का नाम अर्धनागरी है, क्योंकि यह सिद्धमातृका और नागरी दोनों के मिश्रण से बनी है।”

चार शताब्दी पूर्ववर्ती चीनी यात्री इ-त्सिङ्ग ने भी सिद्धम् का वर्णन किया है। अपने यात्रा-विवरण में आपने लिखा है कि भारतीय संस्कृत का अध्ययन सिद्धम् वर्णमाला से प्रारम्भ करते हैं। वर्णमाला की पुस्तक का नाम सिद्धिरस्तु है। वर्णों की संख्या 49 है। इस पुस्तक में स्वर और व्यञ्जन तथा संयुक्त व्यञ्जनों के सिखाने के लिए अठारह अध्याय हैं।

इ-त्सिङ्ग से 700 वर्ष पूर्व दिव्यावदान में भी बालक के प्रथम विद्याभ्यास का वर्णन मिलता है। दिव्यावदान के अनुसार लिपि सीखने का प्रारम्भ 'सिद्धम्' शब्द से किया जाता था। कालान्तर में 'सिद्धम्' लिपि का पर्याय बन गया।

भारत में सिद्धम् लिपि सरकण्डे की लेखनी से लिखी जाती थी। इसका प्रमाण वे तालपत्र हैं जो आज से चौदह सौ, पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व श्रद्धालु भक्त चीन में ले गए और वहाँ से तान्त्रिक उपाध्याय जापान में ले आए। ये तालपत्र जापान के सुप्रसिद्ध होर्यू मन्दिर में सुरक्षित हैं। तालपत्र की चौड़ाई दो अंगुल से चार अंगुल तक होती है इस पर छोटे अक्षर लिखना ही सम्भव है। किन्तु जब तान्त्रिक मन्त्र और धारणी (बौद्ध तान्त्रिक वाक्यादि) चीनी भक्तों के हाथों में पड़े तो उन्होंने अपनी कला का प्रयोग किया, और भारतीय सिद्धम् अक्षर कई-कई हाथ लम्बे-चौड़े लिखे जाने लगे। चीनियों की लेखनी तूलिका है। तूलिका से सूक्ष्म से सूक्ष्म और महान् से महान् अक्षर लिखे जा सकते हैं। अक्षर कौशेय (रेशम), कागज और मन्दिरों की भित्तियों पर लिखे जाते थे।

हमारे पास नालन्दा के विद्वान् प्रज्ञातार के लिखे हुए अक्षर विद्यमान हैं जो उन्होंने नवीं शताब्दी में चीन में जाकर चीनी तूलिका से लिखे। सिद्धम् में लिखी हुई धारणी उन्होंने अपने जापानी शिष्य चिशो-दाइशी को उपहार में दी।

1837 ई. में जापानी भिक्षु सो-गेन् ने पाँच विस्तृत भागों में अशर-जो नाम का ग्रन्थ प्रकाशित किया जिसमें उसने चीनी और जापानी आचार्यों के उपलब्ध सिद्धम् लेखों को पुराने मन्दिरों के पुस्तकालयों से संग्रह किया।

लेखन-साधनों में से चीन की तूलिका संसार का उत्कृष्ट साधन है। चीनी तूलिका के प्रयोग के कारण सिद्धम् लिपि एक कलात्मक लिपि बन गई है। आज स्वतन्त्रता-युग में भारत इस लिपि का अनुसरण करके शीर्षकों और नाम-फलकों के लिए देवनागरी के अद्भुत कलापूर्ण रूपों का विकास कर सकता है।

चीनी तूलिका का नाम माओ-पी अर्थात् लोम-लेखनी है। इसके साथ-साथ मध्य-एशिया से चीन में मू-पी अर्थात् काष्ठ-लेखनी का प्रवेश हुआ। थाङ् वंश के ऐतिहासिकों में काष्ठ-लेखनी का उद्गम कुस्तन अथवा खेतान बतलाया है। मू-पी साधारण लकड़ी की एक अंगुल अथवा अधिक चौड़ी शलाका होती है। आज भी इसका प्रयोग मंगोलिया में हो रहा है।

प्रत्येक अक्षर के सिखाने के लिए अनेक खण्ड कर दिए जाते थे और चीनी पद्धति के अनुसार प्रत्येक खण्ड का अलग नाम दिया जाता था। जैसे 'अ' के ऊपर की शिरोरेखा का नाम 'थ्येन्' अथवा आकाश। दूसरे भाग का नाम 'जन्' अथवा मनुष्य, क्योंकि इसका आकार चीनी अक्षर 'जन्' से मिलता है। तीसरे खण्ड का नाम 'ती' अर्थात् भूमि। चौथे का नाम 'फाङ्' अर्थात् वर्ग। अन्त में सम्पूर्ण अक्षर 'अ' का नाम अनादि और अनन्त।

चीनी विहारों में सिद्धम् लिपि का ऊँचा स्थान था। प्रत्येक वर्ण का विशेष आध्यात्मिक अर्थ है। ध्यान और समाधि में ये सहायक माने जाते थे। साधक भित्ति पर वृत्त बनाकर, उसमें बीजवर्ण लिखकर उस पर ध्यान लगाता था। अक्षर की महत्ता सर्वोपरि थी। यह आदि और प्रारम्भ का प्रतीक था। मन्त्रयान के सब सिद्धान्तों का इसमें समावेश माना जाता था। शुभंकर सिंह ने अकार के ध्यान की महिमा गाई है। अष्टपत्र श्वेत कुमुद में से स्वर्णभास अकार समुद्भूत होता है। पद्मासन लगाकर इस अकार को भित्ति पर सामने टाँगकर शुद्ध काय और शुद्ध मन से प्रत्येक प्राण और अपान में 'अ' ध्वनि का उच्चारण गाता हुआ साधक ध्यान लगाता है। धीरे-धीरे अकार परिमाण में वृद्धि प्राप्त करता हुआ समस्त संसार में फैल जाता है और सर्वव्यापी वैरोचन में लीन तथा तद्रूप हो जाता है।

जिस प्रकार चीन में पुराने मन्दिरों की भित्तियों पर अकार लिखा मिलता है उसी प्रकार जापानी शिंगोन् मन्दिरों में डेढ़, दो हाथ व्यास की ताम्रमयी थालियाँ टँगी मिलती हैं, जिन पर महाकाय अकार खुदा होता है।

इष्ट देवता की धारणियों का प्रयोग महायान के अनुयायियों के ध्यान का दूसरा साधन था। प्रज्ञापारमिता हृदयसूत्र तथा उष्णीषविजय धारणी, आदि अनेकों पुस्तिकाएँ अभी तक इस लिपि में विद्यमान हैं।

बीजाक्षरों (चीनी भाषा में चुङ्-त्सु) द्वारा तान्त्रिक जन देवता का पूर्ण ओजस्वी स्वरूप साक्षात् कर सकते थे। बीजाक्षरों से कई प्रकार के मण्डलों का निर्माण होता था। प्रत्येक बीज किसी न किसी विशेष देवस्वरूप का वाची था। उदाहरणार्थ 'वं' वैरोचन के लिए, 'त्रः' रत्न-पारमिता के लिए, 'अः' अमोघसिद्धि के लिए, 'धं' वज्रतीक्ष्ण के लिए, 'मै' ब्रह्म के लिए, 'च' केतु के लिए, 'घ' कुमार के लिए। बीजाक्षरों के लिखित स्वरूप का ध्यान करने से उनकी शक्ति और उनके ओज का भान होता है।

आज से दस वर्ष पूर्व तक लम्बी यात्रा प्रारम्भ करते समय चीनादि देशों के साधारण जन सिद्धम् लिपि में लिखे बीजमन्त्रों को अपना सहायत्री बनाया करते थे।

चीन में लिपि का कितना ऊँचा स्थान है यह हमारे पाठक अनुमान करने में समर्थ नहीं होंगे। चीनियों ने भारतीय लिपि को अपनी लिपि की अपेक्षा भी ऊँचा स्थान दिया। उनकी अपनी लिपि अत्यन्त जटिल है। जीवन भर के प्रयत्न से भी उसका पूर्ण ज्ञान होना सम्भव नहीं। प्रत्येक शब्द के लिए अलग अक्षर सीखना पड़ता है। चीनी पद्धति वर्णमाला-पद्धति नहीं है समस्त लिपि को सीखने का अर्थ भाषा के समस्त शब्दों को सीखना है। भोले-भाले चीनी भक्त सिद्धम् वर्णमाला के स्वरों, व्यञ्जनों और उनके संयोगों को बड़े परिश्रम से सीखते थे। उनका विश्वास था कि इनके सीख लेने से समस्त भारतीय साहित्य के सीखने का पुण्य-लाभ होगा।

अब चित्रों पर दृष्टिपात कीजिए।

प्रथम चित्र में सिद्धम् की नौ पंक्तियाँ हैं। इनमें से प्रत्येक पंक्ति का देवनागरी में लिप्यन्तर देते हैं।

पहली पंक्तिसिद्धं अक्षरः

दूसरी पंक्तिनमः सर्वज्ञाय सिद्धां।

तीसरी पंक्तिअ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ लृ लृ ए ऐ

चौथी पंक्तिओ औ अं अः

पाँचवीं पंक्तिक् ख ग घ ङ च छ ज झ ञ

छठी पंक्ति ट ठ ड ढ ण त थ द ध न

सातवीं पंक्ति प फ ब भ म य र ल व

आठवीं पंक्तिश ष स ह क्ष

नवीं पंक्तिक् का कि की कु कू के कै को कौ कं कः

इनमें से विशेष ध्यान देने योग्य स्वर इ ई लृ लृ हैं। इसी प्रकार व्यञ्जनों में भी पाठक अनेक ऐसे रूप पाएंगे जो भारतीय इतिहास के लिए परमावश्यक हैं। कई अक्षरों का साम्य कश्मीर की शारदा लिपि से, कई का देवनागरी से और कई का बंगला से पाठक स्वयं देख पाएँगे।

चित्र 2 और 3 हम पाठकों के लिए पहली के रूप में उपस्थित करते हैं।

चित्र 1

<p>大悉曇章 本 本京都合万六千五百五十字 班泰在七千九百四十六字</p>	
अ	इ
उ	ऋ
ॠ	ऌ
ॡ	ॢ
<p>大悉曇章 本</p>	
क	ख
ग	घ
च	छ
ज	झ
ड	ढ
ण	त
थ	द
ध	न
प	फ
ब	भ
म	य
र	ल
व	श
ष	स
ह	ळ
ॠ	ॡ
ॢ	ॣ
।	॥
<p>以上三行着工二箇逆轉准之致</p>	

चित्र 2



चित्र 3



डायरी के पन्नों से

रमेशचंद्र शाह*

नैनीताल
30.5.84

ज्योलीकोट से आगे गेठिया से कुछ पहले मिलिटरी की गाड़ियों की एक लम्बी कतार नीचे उतरती दिखी। कोई पन्द्रह मिनट तक हमारी गाड़ी रुकी रही...उन्हें रास्ता देने के लिए। यहाँ पर मार्ग सँकरा था। दो गाड़ियाँ एक साथ अगल-बगल से नहीं गुजर सकती थीं कम-से-कम चालीस गाड़ियाँ रही होंगी...जवानों से लदी-फँदी। निश्चय ही वे कुमाऊँ रेजीमेंट के सिपाही थे। रानीखेत से आ रहे थे ये ट्रक। एकाएक यह 'मूवमेंट' क्यों? एक अजीब आशंका मन में व्याप गई। जैसे मोर्चे पर जा रहे हों। कहाँ ले जाए जा रहे होंगे ये लोग? क्या ये कभी इसी तरह वापस लौटकर आएँगे? हजारों की तादाद में हमारे सैनिक चीन और पाकिस्तान से लगने वाली सीमा रेखाओं पर तैनात होंगे...ऐन इसी वक्त। दस-दस, बारह-बारह, पन्द्रह-पन्द्रह हजार फीट की हड्डियाँ गला देनेवाली ठंड को झेलते दिन-रात। कभी हमें ध्यान भी आता है उनका?

बचपन में भूगोल की कक्षाओं में जो पढ़ा था...उससे आज के भारत का नक्शा कितना अलग है। तब पाकिस्तान और बंगलादेश का तो किसी को स्वप्न भी नहीं आ सकता था। बर्मा भी जैसे अपने देश का ही हिस्सा प्रतीत होता था। तिब्बत से कितना अपना लेन-देन चलता रहता था। वह भी अपने ही घर का आँगन था जैसे। और... अब? हर जगह आग लगी हुई है; उधर कश्मीर में, उधर पंजाब में, उधर पूर्वोत्तर भारत में। हर जगह अलगाववाद का ताण्डव मचा हुआ है। उधर श्रीलंका की तमिल समस्या दिनों-दिन भीषण होती जा रही है। पता नहीं, कब क्या हो जाए। और...इस सारे तनाव में सबसे ज्यादा किसे झेलना पड़ता है? निश्चय ही हमारे इन सैनिकों को। वही हैं बलि-पुरुष हमारी इस खंडित, विकलांग और हर तरफ से आक्रान्त राष्ट्रीयता के!

अल्मोड़ा
7.6.84

* रमेशचन्द्र शाह हिन्दी तथा अंग्रेजी के जाने-माने लेखक, समीक्षक तथा चिन्तक हैं।

खुशवंत सिंह ने पद्मभूषण लौटा दिया...यह है आज की ताजा खबर। क्या कुछ और भी सिक्ख बुद्धिजीवी उनका अनुकरण करेंगे? ज्ञानीजी पर भी दबाव पड़ सकता है...राष्ट्रपति पद से इस्तीफा देने के लिए।

उस दिन गेठिया के पास एक के बाद एक गुजरती मिलिटरी की गाड़ियों के काफिले का स्मरण हो आया। तब यह एकाएक दिमाग में नहीं आया थाकि वो सारे, के सारे जवान अमृतसर जा रहे होंगे। नहीं! कुछ धुँधली सी आशंका जागी तो थी मन में, पर टिकी नहीं थी। याद आता है बर्मी भाई साहब से अभी एक पखवाड़े पहले ही हुई बातचीत। यही तो कहा था उन्होंने, कि इसके सिवा और कोई चारा नहीं है और यह कभी भी हो सकता है। आर्मी कैप्टन की हैसियत से उन्हें कुछ भीतर की जानकारी होगी...तभी तो कहा था उन्होंने।

परन्तु घटनाक्रम जिस तरह घटित हुआ, वैसा तो बर्मी भाई साहब ने भी नहीं सोचा होगा। जितना आसान उन्होंने बताया था, उतना आसान तो नहीं साबित हुआ यह। उनका तो ख्याल था, टक्कर नाममात्र की ही होगी। आतंकवादी सेना के सम्मुख आत्मसमर्पण कर देंगे। इतनी बलि चढ़ानी पड़ेगी जवानों की...ऐसा तो उन्होंने भी नहीं सोचा था।

अल्मोड़ा
24.6.84

हक्सले का 'राइटर्स एण्ड रीडर्स' शीर्षक निबंध एक बार फिर से पढ़ने की प्रेरणा हुई। कितनी पैनी और बेधक दृष्टि है उसकी। उसके कथनानुसार मनुष्य बना ही कुछ ऐसी धातु का है जो नैतिक और बौद्धिक शून्य को सह नहीं सकता। हम दुर्बल मानव जीव अपनी वासनाओं और स्वार्थ बुद्धि से ही परिचालित होते हैं अवश्य, किन्तु इस नंगे तथ्य को अपने आपसे छुपाते रहना भी हमारी उतनी ही बड़ी मजबूरी है। अपने स्वार्थ-प्रेरित कृत्यों को भी जब तक हम बुद्धिसम्मत नहीं ठहरा देते, हमें चैन नहीं पड़ता। कितनी सच्ची बात है यह। जयशंकर प्रसाद की वे पंक्तियाँ अनायास स्मरण हो जाती हैं

"बन जाता सिद्धांत प्रथम, फिर पुष्टि हुआ करती है।
बुद्धि उसी ऋण को ले, अपना रिक्त सदा भरती है।"

हक्सले का कहना है फ्रांसीसी राज्यक्रांति के बाद से जनता और राष्ट्र यही दो चीजें शक्ति के स्रोतों के रूप में स्थापित हो गई हैं। आज का निरंकुश अधिनायक भी अपनी बलात्कारपूर्वक हाथ आ गई सत्ता को वैधता प्रदान करने के लिए उसी मानवतावादी प्रजातंत्र का हवाला देता है, जिसे उखाड़ फेंक कर ही वह सत्तासीन हुआ था। यह सारा प्रचार, जनता इसलिए पचा लेती है कि इसमें उसकी हीनभावना की झाड़ू-फूँक कर देनेवाले मनोवैज्ञानिक हथकण्डे सफलतापूर्वक अपनाए गए हैं। दूसरे शब्दों में, आसक्ति और पक्षपात को आदर्श के रूप में पदोन्नत किया जाता है। हम सभी अपनी निम्नतम प्रवृत्तियों

...ईर्ष्या, घृणा, लालच और क्रूरता को किसी तरह नैतिक औचित्य प्रदान करने के चक्कर में रहते हैं। तानाशाह हमें यह औचित्य सुलभ करा देते हैं।

मगर, यहीं पर हक्सले एक आशा की किरण भी देखता है। कहता है—“शिक्षित और सभ्य मानवों की इतनी बड़ी संख्या को वापस जंगलीपन के स्तर पर उतारे रखने की असंभवता ही अंत में ऐसे उपक्रमों के विरुद्ध जाती है। मानव में बुद्धिसम्मत और सभ्य आचरण की जो अर्हता है, वह उसे अपनी निम्नतम वृत्तियों की कैद से कभी संतुष्ट नहीं रहने देती। कबीलाई नैतिकता पर आधारित राजनीति आधुनिक जगत में अंततः चल नहीं सकेगी।” एक और भी विचारोत्तेजक बात कही है उसने और, वह यह, कि ‘विज्ञान द्वारा उपजाई गई जानकारीयों का अभूतपूर्व अम्बार वास्तव में सच्ची समझ देने में असमर्थ है। आज से चार सौ साल पहले का फ्रांसीसी शायद अपने समकालीन अंग्रेज के बारे में तथ्यों के स्तर पर काफी कम जानकारियाँ रखता था मगर उसकी दिमागी और भावनात्मक प्रक्रियाओं के बारे में उसका ज्ञान कहीं ज्यादा प्रामाणिक और गहरा था। यह ज्ञान प्रत्यक्ष आत्म-निरीक्षण का फल हुआ करता था। चूँकि वह खुद अपने को बेहतर जानता-समझता था, इस कारण वह दूसरे को भी बेहतर जान और समझ सकता था।’

हक्सले यहाँ एक जोरदार बात हमारे सामने रखता है, कहता है... “धार्मिक और लौकिक साहित्यों की खुराक पर जो मन-मस्तिष्क पलते और पुष्ट होते हैं, वे अनायास ही एक ऐसी पारस्परिक समझ की सामर्थ्य से लैस हुआ करते हैं, जिसकी कल्पना भी हम लोग नहीं कर सकते क्योंकि हमारे दिल-दिमाग ‘साइंस’ और पत्रकारिता के स्तर की सतही जानकारीयों पर पले-बढ़े हैं और उसी बूते जुड़े हुए हैं। यह जुड़ाव बेहद कमजोर साबित हुआ है। हमने धर्मग्रंथों को पदच्युत करके उनकी जगह विश्वविजयी विज्ञान की प्रतिष्ठा तो कर दी। मगर अलौकिक धर्म-विश्वासों को नष्ट करके मनुष्य को उनके बदले हमने क्या दिया? राष्ट्रवाद और तानाशाही जैसे नए-नए अंधविश्वास ही न? देखना है, मनुष्य और उसकी चेतना के इस भयावह अंग-भंग का अब कोई इलाज आधुनिक युग के पास निकल पाता है कि नहीं?”

क्या इसी प्रश्न की अनवरत ताड़ना ने हक्सले को अंततः ‘पेरिनियल फिलॉसफी’ यानी सनातन धर्मतत्त्व-दर्शन की खोज में प्रवृत्त किया होगा?

लखनऊ, 20 जुलाई 84

लो, रायकृष्ण दास व्याख्यान माला के अंतर्गत मेरा व्याख्यान तो पहले ही दिन रख दिया गया और मुझे पता ही नहीं। पहले तो इस व्यतिक्रम से बड़ा अजीब लगा, फिर राहत ही मिली यह सोचकर, कि उद्घाटन के दिन ही निबट जाँगे अच्छा तो है। बाकी दो दिन हल्के-फुल्के और इत्मीनान से बिताए जा सकेंगे।

व्याख्यान ठीक-ठाक निभ गया। लिखित व्याख्यान की एकरसता को तोड़ने के लिए आरंभ में, और बीच-बीच में भी कुछ मौखिक उपक्रम करता रहा। श्रोतागण

प्रबुद्ध या रसिक तो नहीं जान पड़ेपर अपनी ‘परफार्मेंस’ से अंसंतुष्ट होने की नौबत नहीं आई।

उद्घाटन भाषण श्री नारायण चतुर्वेदी का थाबड़ा भावविह्वल। उसके बाद चाय और तब फिर नए सिरे से श्रोतागण म्यूजियम के उसी हाल में एकत्र हुए मेरा व्याख्यान सुनने। विद्यानिवासजी ने मेरा परिचय देते हुए कुछ उत्साहवर्धक बातें कहीं। अध्यक्ष सुभाष जी थे। मेरे व्याख्यान के उपरान्त वे अपनी टैन्जेन्शियल, चंचुप्रहारी प्रलाप-शैली में कोई आधा घण्टा बोले, जिसका विषय से सम्बन्ध कम ही था। कुँवरजी ने मेरे व्याख्यान पर कोई प्रतिक्रिया जाहिर नहीं की। रात का भोजन उन्हीं के घर पर था। वहाँ बहुत मजा आया। राय आनन्द कृष्ण की मौज-मस्ती भरी बातें और संस्मरण। राव साहब (एस. आर. राव) भी थे वे हिन्दी खूब समझ लेते हैं; पर बोलने में हिचकिचाते हैं। कल उनका व्याख्यान होगासिंधु घाटी सभ्यता की लिपि पर। उनसे बात करके बहुत अच्छा लगा। बहुत ही आत्मीय और सरल स्वभाव के व्यक्ति लगे। उन्हीं ने मुझे बताया कि पुरातत्त्व में उनकी आरम्भिक दीक्षा हीरानंद शास्त्री के सान्निध्य में ही हुई थी।

21 जुलाई, 85

राम आडवाणी की दूकान पर नई पुस्तकें देखीं। वात्स्यायन जी ने पाँच-छह पुस्तकें खरीदीं। मेरे पास सिर्फ आन्द्रे जीद के ‘जर्नलज’ खरीदने लायक पैसे थे।

वहाँ से सुमनजी अपने दफ्तर (हिंदी संस्थान) लिवा ले गए। उन्होंने 40 प्रतिशत कमीशन दिलवा दिया तो तीन पुस्तकें उनके यहाँ से भीबहुत सस्ते दामों पर खरीद लाया। हिंदू धर्मशास्त्र, उर्दू-हिन्दी कोश और शंकरकृत ‘ब्रह्मसूत्र’ का भाष्य। देर हो गई थीकुँवरजी को फोन करके गाड़ी वहीं मँगवा ली। बातों-बातों में कब पौने चार बज गया, पता ही नहीं चला। साढ़े चार बजे सभाकक्ष में पहुँचे। व्याख्यान, बस शुरू ही होने वाला था।

व्याख्यान मुझे तो बहुत रोचक लगा। स्लाइडज की मदद से राव साहब ने सिंधु-सभ्यता की लिपि के विकास के सोपान बड़े क्रमबद्ध ढंग से प्रस्तुत किए। पर उनकी समूची तर्क-शृंखला में एक कड़ी नदारद थी। वह वास्तव में लिपि ही है, मात्र चित्र नहीं, इसका तो उन्होंने अच्छी तरह प्रत्यय जगाया। किन्तु, किस संकेत को क्या मूल्य दिया गया और क्यों दिया गया, इस प्रक्रिया के बारे में श्रोतागण आश्वस्त नहीं हुए। यह व्याख्यात्मक पक्ष शायद बहुत प्रमाण-पुष्ट और तर्कशुद्ध नहीं था। किन्तु इतना तो प्रकट था कि उन्हें पक्का-पूरा आत्मविश्वास है अपने नतीजों को लेकर।

यदि राव साहब की ‘रीडिंग’ में कुछ भी दम है तो इससे सैंधव सभ्यता और वैदिक सभ्यता के बीच जो खाई है, उसे पाटने की संभावना को बल मिलेगा और उनकी खोज एक जबर्दस्त ‘ब्रेक-थ्रू’ साबित होगी। आर्यों के बाहरी आक्रान्ता होने की अवधारणा तो स्वयं वेदों के अन्तःसाक्ष्य से ही प्रमाणित नहीं होती। उसे तो एक-न-एक दिन पूरी तरह मनगढ़न्त साबित होना ही है। किन्तु इतने बड़े भू-भाग

में स्थापित और विस्तृत इस कदर नागरिक और सुविकसित सभ्यता काजिसे अब हरप्पन सभ्यता का नाम दे दिया गया है वैदिक सभ्यता से, भले वह परवर्ती होबिलकुल भी सम्बन्ध न हो, यह बात गले उतरती नहीं।

स्लाइडज दिखाये जाने के दौरान उनकी आवाज साफ नहीं सुनाई दे रही थी। राव साहब ने मुझेसे वादा किया है कि इस विषय पर प्रकाशित अपने एक पेपर का पुनर्मुद्रण मुझे अवश्य भिजवा देंगे। यों उनकी पुस्तक भी छपके आ गई है 'एशिया पब्लिशिंग हाउस' से। पर वह खासी महँगी है।

आज भी व्याख्यान के उपरान्त कुँवरनारायणजी के घर पर ही रात्रि-भोजन का कार्यक्रम था। मजेदार जमावड़ा था : राव साहब, वात्स्यायनजी, इलाजी, सुमन, आनन्दकृष्ण, भारतीजी, कुँवरजी। सुमनजी के साथ वात्स्यायनजी का बड़ा नॉक-झोंक वाला मजेदार रिश्ता देखने में आया। सुमन जी कोई-न-कोई कटाक्ष करते रहते हैं और अज्ञेयजी तुरन्त नहले पै दहला मारने में चूकते नहीं। मुझे यह देखकर बड़ा कौतुक हुआअज्ञेय की इस 'रेडी-विट' (हाजिरजवाबी) का परिचय कम ही मिलता है। लगता है, उन्हें भी कोई उकसाने वाला चाहिएजो सुमन जी 'आ बैल, मुझे मार' वाले अन्दाज में उन्हें सहर्ष सुलभ करते रहते हैं। अब, जैसे, सुमनजी दाल की तारीफ में कुछ ज्यादा ही बहके-चहके जा रहे थे (अरे, भारती, तुम तो कमाल ही करती हो भाई। ऐसी दाल तो हमने कभी चखी नहीं...काहे की है भाई ?...क्या-क्या डला है इसमें ? ..) कि अज्ञेय ने चुटकी ली'आप कह क्या रहे हैं सुमनजी ? ये मुँह..और...?' वाक्य उन्होंने अधूरा ही छोड़ दिया और सुमनजी बहुत खिसियाये। क्योंकि दाल मसूर की ही थी।

भोपाल, 9 अगस्त, 1984

'हिन्दी की पूर्व और वर्तमान स्थिति' को स्पष्ट करते हुए शुक्लजी कहते हैं'कोई भाषा जितने ही अधिक व्यापारों में मनुष्य का साथ देगी उसके विकास और प्रचार की उतनी ही अधिक संभावना होगी। हमारे हृदय को उन शब्दों को सुनकर द्रवीभूत होने का अभ्यास अधिक रहता है जो हमारे घरों में सुनाई पड़ते हैं, क्योंकि वहाँ प्रकृति से हमारा मेल अधिक रहता है। यदि हम इन्हें छोड़ दें तो हमारे लिखने-पढ़ने की भाषा में वह शक्ति नहीं रह जाती। समाज भी इसी गार्हस्थ्य जीवन का एक विकास है।'

उर्दू के प्रति शुक्लजी का दृष्टिकोण अपनी यथातथ्यता के कारण ही हमारे 'सेंटीमेंटलिस्ट' खुदमुख्तारों को रास नहीं आता। वे कहते हैं...'जब मौलवी लोगों ने देखा कि बोलचाल में खड़ी बोली का प्रचार खूब हो रहा है, तब उन्होंने एक कपोल-कल्पना की कि शाहजहाँ के लश्कर से एक नई जबान उर्दू पैदा हुई है। पीछे उसे 'विरजभाषा, फारसी, अरबी और तुरकी का एक मुरक्कब' बताया। पर किसी देश की भाषा में और देशों के शब्द भले मिल जाएँ, एक नई भाषा नहीं बन सकती।

फारसी-अरबी मिश्रित खड़ी हिंदी को उर्दूयानी, एक नई भाषा बताना भ्रम है। ग्रियर्सन ने भी इसे स्वीकार किया।'

(1987 चिन्तामणि-3, पृ. 112)

हिन्दी और हिन्दुस्तानी को लेकर भी आचार्य शुक्ल बहुत दो-टूक स्पष्ट बातें करते हैं। वे बाकायदा तारीख देते हुए हमें बताते हैं कि 'सन् 1700 में दिल्ली के हातिम शायर ने हिन्दी शब्दों की छँटाई की। 'सौदा की पहली शायरी' का उल्लेख करते हुए वे आगे कहते हैं'लखनऊ में नासिख के हाथ से यह हिन्दीपन भी दूर किया गया।...' इस प्रकार यहाँ की परंपरागत भाषा के आधे हिस्से से और परंपरागत साहित्य के सर्वांश से अर्थात् देश के सामान्य जीवन से उर्दू दूर हटा ली गई। परिणामतः अपने को बनाए रखने के लिए वह मकतबों-दफ्तरों की मुहताज हो गई। मुसलमानों ने हिन्दी को दफ्तरों में घुसने नहीं दिया।

शुक्लजी का निष्कर्ष : "जिस प्रकार हिन्दीवीप निकाल कर एक विदेशी ढाँचे की भाषा को खड़ी करने का क्रमबद्ध इतिहास है उसी प्रकार उस भाषा को सबके गले मढ़ने के लिए, हिन्दी को दूर रखने के घोर प्रयत्न का भी खासा इतिहास है जो उस समय से शुरू होता है जब पूरा देश अंग्रेजों के हाथों में आया। रही हिन्दुस्तानी, वह थोड़ी छनी हुई उर्दू के सिवा कुछ नहीं है।"

सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण और स्मरणीय उक्ति शुक्लजी की स्वयं साहित्य नाम की विभूति को परिभाषित करने के उपक्रम से सम्बन्धित है।...'साहित्य किसी जाति की रक्षित वाणी की वह अखंड परंपरा है जो उसके जीवन के स्वतन्त्र स्वरूप की रक्षा करती हुई जगत् की गति के अनुरूप उत्तरोत्तर उसका अन्तर्विकास करती चलती है। उसके भीतर प्राचीन के साथ नवीन का इस मात्रा में और सफाई के साथ मेल होता चलता है कि उसके दीर्घ इतिहास में कालगत विभिन्नताओं के रहते हुए भी यहाँ से वहाँ तक एक ही वस्तु के प्रसार की प्रतीति होती है। यह परंपरा शब्द की भी होती है और अर्थ की भी। शब्द-परंपरा भाषा को स्वरूप देती है और अर्थ-परंपरा साहित्य का स्वरूप निर्दिष्ट करती है। दोनों के सामंजस्य में बाधा पड़ी तो साहित्य देश की प्राकृतिक जीवन-धारा से विच्छिन्न हो जाएगा और जनता के हृदय को स्पर्श न कर सकेगा'।

17 जुलाई, 1984

कल रामकुमार और निर्मल वर्मा दोपहर भोजन पर आए थे। फिर शाम को हम लोग उनके यहाँ गए। घूमने जाने का कार्यक्रम था। पर वहाँ पहले से कुछ लोग बैठे हुए थे। फिर तो बातें चल निकलीं और वहीं साढ़े दस बज गए। यूँ दिलचस्प और उत्तेजक बातें तो इस मंडली में पहले भी होती रही हैं पर आज मुझे एक अलग ही अनुभव हुआ जो पहले शायद इस तरह कभी न हुआ होगातभी तो मैं अभी तक

उससे घिरा हुआ पा रहा हूँ खुद को। इसका श्रेय रामकुमार को जाता है जिन्होंने अंततः एक विकट प्रश्न का सामना करने को प्रेरित किया सबकोकि यह भारत की आधुनिक कला आखिर है क्या ? इसे कौन स्वीकृति देता है या नहीं देता इसकी सार्थकता क्या है ? उन्होंने कहा कि यूरोप में हमारे चित्रकारों को महत्त्वपूर्ण स्थान कभी नहीं मिला। न अब ही उसकी कोई उम्मीद है। इस पर स्वामीनाथन का कहना था कि...‘न करें वे हमें स्वीकार, हमें जो करना था, वह हमने किया और कर रहे हैं।’ स्वामी यह मानकर चल रहे थे कि आधुनिक कला को भारत का मौलिक और महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है, जो यूरोप की नकल कतई नहीं है, बल्कि स्वाधीन सर्जना है। मेरा कहना था किठीक है, यूरोप के कला-मर्मज्ञ आपकी कला को अपने अज्ञान या पूर्वग्रहवश स्वीकृति नहीं देतेयह मान लें; तो भी क्या स्वयं अपने देश में आपको यह भरोसा है कि आपके अपने लोगों ने आपकी कला को अपनी कला की तरह, अपनी अंतरात्मिक जरूरत और अनिवार्य अभिव्यक्ति की तरह स्वीकार किया है ? और...क्या इस बीच स्वयं पश्चिम की आधुनिक कला एक अंधी गली में नहीं पहुँच गई है? क्या वह स्वयं को लॉघने और नया रास्ता निकालने की छटपटाहट महसूस नहीं करती दिखाई देती ?...तब ऐसे में अगर वे पाते हैं कि जो वे कर चुके हैं, उसी को आप दुहरा रहे हैंआपकी कला उन्हें उस अन्धी गली से उबरने में कोई मदद करती या नई प्रेरणा देती उन्हें नहीं लगती तो क्या यह सिर्फ एक साम्राज्यवादी झूठ या जातीय पूर्वग्रह और उच्चतर-ग्रन्थि ही है?’

निश्चय ही, पश्चिम से स्वामी की शिकायत निराधार नहीं थी। परन्तु, रामकुमार जो सवाल उठा रहे थे, वह इससे नहीं कट जाता कि पश्चिम अन्याय करता है। निर्मल जी और रामकुमार भीस्वामी की आलोचना को ध्यान से और सहानुभूतिपूर्वक ग्रहण कर रहे थे। किन्तु, स्पष्टतः दोनों की चिन्ताओं के बीच अन्तर था। रामकुमार के भीतरमुझे लगाएक लम्बा अर्द्धचन्द्र चलता रहा है जो अब एक निश्चित शक्ति अख्तियार कर रहा है। चौदह की शाम भारत भवन में उनका जो व्याख्यान हुआ था उसमें भी तो उन्होंने कला में भारतीय अस्मिता का प्रश्न उठाया था। उस व्याख्यान से भी मन पर यही छाप पड़ी थी कि रामकुमार को आधुनिक भारतीय कला की यात्रा से भीतर-ही-भीतर एक असंतोषएक अपर्याप्तता या अकृतार्थता का अहसास सताने लगा है और वे कुछ ऐसे विचलित कर देने वाले प्रश्नों के सामने खुद को खड़ा पा रहे हैं जो पहले इतने तीखपेन से उनके भीतर नहीं उपजे थे।

20 जुलाई, 84

‘स्वराज इन आइडियाज’ शीर्षक प्रख्यात दर्शनशास्त्री के.सी.भट्टाचार्य के सन् 1928 में दिए गए अत्यन्त विचारोत्तेजक व्याख्यान की साइक्लोस्टाइल की हुई प्रति निर्मल जी मुझे दे गए हैं। उनका आग्रह है कि मैं प्रो. के.जे. शाह के ‘फिलोसॉफिकल जर्नल’ के लिए इस पर समीक्षात्मक टिप्पणी अवश्य लिखूँ।

इस लेख को पढ़कर मेरी आँखें खुल गईं। इससे साबित होता है कि दर्शन भारतीय दिलो-दिमाग की प्रामाणिक अभिव्यक्ति है और देश की दुर्दशा को समझना, उसके असली कारणों तक पहुँचकर उसके निवारण की सही दिशा सुझाना एक दार्शनिक बुद्धि की भी अपेक्षा रखता है। आश्चर्य होता है कि 1928 में यह दार्शनिक दिमाग अपने देश की अधोगति कोउसके बुद्धिजीवियों के भीतर गहरे धँसी हुई आत्म-हीनता को इस कदर साफ-साफ देख सका और रोग को उसके सही नाम से पुकारते हुए उसके सारे लक्षणों को दिखाते हुए उपयुक्त निदान का संकेत भी सुझा सका।

व्याख्यान अंग्रेजी में दिया गया है। हिन्दी अनुवाद में उसके कुछ मुद्दे यूँ होंगे : एकसांस्कृतिक गुलामी अचेतन स्तरों पर हमें जकड़े रहती है। जिस दबाव या अंकुश के प्रति हम सचेत होते हैं, उसे हम प्रतिरोध दे सकते हैं, झेल सकते हैं, और उसके बावजूद अपने अंतःकरण में मुक्त रह सकते हैं। किन्तु सांस्कृतिक रूप से पराधीन व्यक्ति को अपनी परवशता का होश ही नहीं होता। तो क्या खाकर वह उसका प्रतिकार करेगा और कैसे?

दोयह सांस्कृतिक परवशता तब उपजती है जब विचारों-भावनाओं का हमारा पारंपरिक साँचा, बगैर किसी स्पर्धा या तुलना के एक विदेशी-विजातीय साँचे द्वारा पूरी तरह विस्थापित और अतिक्रमित कर दिया जाता है। यह विजातीय संस्कृति तब हमसे एक प्रेत की तरह चिपट जाती है। उस प्रेतबाधा से जब हम अपने को पूरी तरह मुक्त कर लेते हैं, तब हमें फिर से नया जन्म लेने जैसी अनुभूति होती है और वैचारिक स्वराज से मेरा आशय यही प्रेत-मुक्ति है।

तीनहमारा सारा शिक्षा-तंत्र ही इस समय ऐसा है कि पाश्चात्य संस्कृति ही हमारे भीतर सबसे पहले पैठ जाती है। अपनी प्राचीन संस्कृति को हम इस तरह आत्मसात् नहीं करतेमहज कुतूहल की तरह उसमें ताक-झाँक भर करते हैं। हमारे शिक्षित लोग वैसा कतई नहीं सोचते-महसूसते जैसा उन्हें अपनी प्राचीन संस्कृति के निरन्तर सम्पर्क में सोचना-महसूसना चाहिए कि, वे इस सम्पर्क के फलस्वरूप अपनी स्वयं की आत्मा का आविष्कार कर रहे हैं।

चारपाश्चात्य संस्कृति हम पर लादी तो गई किन्तु हमने खुद भी उसकी चाहना और माँग की थी। उसे हमने खुली आँखों, खुले होशोहवास से आत्मसात् नहीं कियाअपनी परंपरागत भारतीय बुद्धि के जरिये। वह हमारा परंपरागत मन हम शिक्षित भारतीयों की पहुँच से बाहर हमारी चेतना के अचेतन स्तरों में जा डूबा है। अब वह सिर्फ हमारे कुछ पारिवारिक-धार्मिक रीत-रिवाजों-अनुष्ठानों में ही सक्रिय होता है, पर उन अनुष्ठानों-संस्कारों का भी कोई जीवन्त अभिप्राय हमारे भीतर नहीं धड़कता। जब अपनी ही विरासत के साथ हमारे रिश्ते का यह हाल है, तो जो हम पर आरोपित की गई है, उस संस्कृति के जीवंत आत्मसात्करण का प्रश्न ही कहाँ

उठता है?

पाँचतथापि ये विजातीय और आरोपित विचार हमारे भीतर घुस-पैठकर एक तरह की आत्महीन विचार-प्रक्रिया को तो उकसा ही देते हैं जो सचमुच के मस्तिष्क की तरह काम करता दीखता है। पर उससे वास्तविक सृजनात्मक आचरण की अपेक्षा करना व्यर्थ है।

छहऐसी अवस्था में हम अपने ऊपर, अपने बारे में पश्चिमी संस्कृति के पूर्वग्रह-प्रेरित फैसलों को ज्यूँ-का-त्यूँ कबूल कर लेते हैं और उन्हीं को दुहराने लगते हैं। या फिर हमारी प्रतिक्रिया नपुंसक नाराजगी की होती है क्योंकि हममें सचमुच के आत्मालोचन की, अपनी वास्तविक स्थिति के सम्यक् आकलन की क्षमता ही नहीं है।

सातहमारी राजनीति को देख लो 'शक्ति' का कोई 'पर्सपेक्शन' नहीं। हमारे समाज-सुधारकों ने क्या सचमुच कभी इसकी जाँच-पड़ताल की है कि पश्चिम के सामाजिक सिद्धांत क्या सचमुच ऐसे सर्वव्यापी और सार्वभौम सत्य हैं कि उन्हें आँख मूँद के अपने यहाँ लागू किया जा सके? हम चाहे निर्विचार रूढ़िवाद अपनाएँ, चाहे काल्पनिक प्रगतिवाद, दोनों ही मुद्राएँ हमारी नकलची मुद्राएँ होती हैं क्योंकि दोनों जगह हम पश्चिम का ही मुँह ताकते हैं। विद्वत्ता के क्षेत्र में पूछता हूँ, क्या हमने पश्चिमी साहित्य अथवा चिन्तन का एक भी ऐसा मूल्यांकन प्रस्तुत किया है जिसे हम भारतीय कसौटियों पर कसा गया मूल्यांकन कह सकें? दर्शन में भी, कोई संश्लेषण नहीं दीखता। एक भी उदाहरण नहीं, जिसे हम भारतीय दृष्टिकोण से किया गया पाश्चात्य दार्शनिक विचारधाराओं का आकलन कह सकें। जबकि असली चुनौती तो यही थी। भारत की आत्मा की खोज कीउसके प्राचीन स्वरूप और इस अधुनातन स्वरूप के बीच कोई एक अविच्छिन्न सातत्य की प्रामाणिक पहचान उपलब्ध कराने की। बेशक, महाप्राण प्रतिभा इस भारतीय आत्मा को उद्घाटित कर सकती है; किन्तु यह तो अन्ततः दर्शन की ही जिम्मेदारी होती है कि तर्कसंगत पद्धति से उसे खोजकर प्रस्तुत करे।

आठहमारा वास्तविक 'माइंड' एक ऐसे 'शैडो माइंड' द्वारा बेदखल किया गया है जिसकी कोई जड़ें नहीं। न हमारे अतीत में, न वास्तविक वर्तमान में। अब, चूँकि उस प्राचीन जातीय चित्त को न तो पूरी तरह पाताल में धकेला जा सकता है, न जो उसकी बाहर से लादी गई सतह है, वही उपजाऊ और असरदार ढंग से काम कर सकती है, अतः इस स्थिति के दुष्परिणाम प्रत्यक्ष देखे जा सकते हैं : हर जगह मतिभ्रम फैला हुआ है और विचारों का हर क्षेत्र वर्णसंकरता और बाँझपन का शिकार हो गया है। यह मानसिक गुलामी खंजर की तरह हमारी आत्मा तक धँस गई है। सबूत चाहिए तो देसी भाषा और अंग्रेजी का घालमेल ही देख लीजिए। सांस्कृतिक विचारों का व्यक्त करना ही हमारे लिए दुस्साध्य हो गया है।

नौप्रत्येक संस्कृति की अपनी विशिष्ट रूपाकार-संरचना होती है जो उस

संस्कृति द्वारा प्रस्तुत हर जीवन्त विचार और आदर्श में प्रतिबिम्बित होती है... अनिवार्यतः।

दसजीवन का अर्थ ही हैबदलती हुई जगत्-गति और परिवर्तमान आदर्शों के साथ ताल-मेल बैठाते चलना। किन्तु इसके लिए पहले यह अनिवार्य है कि हम इस प्रक्रिया और पद्धति के बारे में पूरी तरह स्पष्ट हों। यहाँ पैबन्दों से काम नहीं चलाया जा सकता।

ग्यारहइस मतिभ्रम का तत्काल निवारण जरूरी है। इसे एक सुनिश्चित टकराव और संघर्ष में परिणत होना होगा। हमें इस घालमेल से उबरना ही होगा। सच्चा संघर्ष तभी संभव है जब हम अपने प्रतिमानों के बारे में गंभीर हों।

बारहपाश्चात्य प्रतिमानों के साथ अपने स्वदेशी प्रतिमानों का संश्लेषण करना हर जगह जरूरी नहीं है। जहाँ वह जरूरी लगेवहाँ भी प्रक्रिया यह होनी चाहिए कि पाश्चात्य प्रतिमानों का अनुकूलन-समायोजन हमारे प्रतिमानों द्वारा, हमारे प्रतिमानों के आधार पर हो; न कि इसके उलट।

तेरहविश्ववाद के पक्ष में तर्क किसी भी समुदाय और यहाँ तक कि मानव-जाति की ही प्रगति आदर्शों के क्रमिक सरलीकरण और एकीकरण का प्रतिफल होती है। बुद्धिवाद का, सर्वसामान्य तर्क बुद्धि का अभ्युदय यहीं होता है। यह प्रक्रिया दो दिशाएँ ले सकती है : पहली दिशा, जिसमें तर्कसंगति का उदय आत्म-संघर्ष की एक सुदीर्घ प्रक्रिया के भीतर से होता है। यहाँ बुद्धिवाद श्रद्धा का विलोम नहीं, बल्कि श्रद्धा से ही प्रेरित-परिचालित होता है। यह श्रद्धा पारंपरिक संस्थाओं के प्रति होती है जिनके माध्यम से भावनाएँ पारदर्शी आदर्शों के रूप में गहराती हैं। इसके विपरीत दिशा वह है जिसमें यह सरलीकरण एक सतही और बिना जोखिम से निखरी निहायत ही कामचलाऊ यांत्रिक समझ द्वारा किया जाता है।

चौदहकुछ विदेशी आदर्श हमारे अपने आदर्शों से साम्य रखते हैं। वे एक विजातीय मुहावरे में अभिव्यक्त वैकल्पिक प्रतिमानों की तरह हमें भा सकते हैं पर उस मुहावरे को हम अपने धार्मिक प्रतीकों की तरह नहीं महसूस करते। दूसरी ओर, वे विदेशी आदर्श होते हैं जो हमारी परिस्थिति पर कदापि लागू नहीं होते। यहीं पर हमें संकीर्ण राष्ट्रवाद से और मिथ्या देशाभिमान से ऊपर उठने की जरूरत होती है। यदि सचमुच कोई आदर्श हमारे अपने पारंपरिक आदर्शों के ही एक सरलतर और गहनतर प्राकट्य की तरह हमें अनुभव होता है, तो उसे महज इसलिए स्वीकार करने से इनकार करना, कि वह विदेशी धरती में उपजा थागलत होगा।

पन्द्रहतर्क की अथवा धर्म की सार्वभौमता की दुहाई देना ठीक नहीं है। सार्वभौम केवल 'स्पिरिट' है : हमारे अपने आदर्शों के प्रति निष्ठा और दूसरे के आदर्शों के प्रति एक उदार खुलापन। नई श्रद्धा को उपलब्ध करने का एकमात्र मार्ग पुरानी श्रद्धा को गहरा करने की क्रिया से ही गुजरता है। यह धारणा बेबुनियाद है कि

आध्यात्मिक जगत् में प्रगति का अर्थ एक तटस्थ तर्कबुद्धि द्वारा प्राचीन ईश्वर और नए ईश्वर के बीच निर्णायक तौर पर चुनाव कर लेना होता है।

दरअसल, आज का सबसे बड़ा खतरा यही है : यह अविचारित, अविवेचित और बाहरी विश्ववाद। यह हमारी जड़विहीन शिक्षा का परिणाम है और वैचारिक स्वराज की राह में सबसे बड़ी रुकावट भी।

इसकी तुलना में यह दूसरा खतराराष्ट्र-प्रेम के उन्माद का खतराउतना उल्लेखनीय नहीं। क्योंकि हमारे शिक्षितजन आत्मविश्वास की अति से उतने ग्रस्त नहीं, जितने हीनता-बोध से। दूसरे लोग हमारे ऊपर जो फतवे देते हैं, उनसे नाराज होने की बजाय उन्हें कबूल कर लेने को हम ज्यादा तत्पर रहते हैं। इसमें हमारी उस 'बाबा वाक्यं प्रमाणम्' वाली रूढ़िग्रस्त मानसिकता का भी कुछ-न-कुछ हाथ हो सकता है। हमको जो भी पढ़ाया जाता है वह प्रचारधर्मी और विदेशी मानदण्डों के आधार पर किया गया पक्षपातपूर्ण मूल्यांकन होता है। हमें उसे आँख मूँदकर घोख लेने या आत्म-मुग्ध बचाव की मुद्रा अपनाने की बजाय आलोचनात्मक तर्कबुद्धि से परखना-सीखना होगा।

सोलहकम से कम राजनीति के क्षेत्र में अब जाकर हमारे शिक्षितजनों ने अपनी निपट असमर्थता के दुर्दान्त तथ्य का सामना करना सीख लिया है। उनकी समझ में आ गया है कि विराट् जन-मानस का सहयोग प्राप्त किए बगैर वे कुछ भी कर सकने में अक्षम होंगे। किन्तु जीवन के दूसरे क्षेत्रों में उन्हें अपनी दुरवस्था का रतीभर ज्ञान नहीं। विचारों के जगत् में, पता नहीं उन्हें कब यह समझ आएगी कि जब तक वे भारतीय जनमानस और जनजीवन में गहरे भिदे विचारों के अनुसारउनकी अपनी शब्दावली और शर्तों पर सोचना नहीं सीखेंगे तब तक उनके सोच-विचार का कोई असर पड़नेवाला नहीं है। तब तक वह बंजर और निष्प्रभावी ही रहने को अभिशप्त हैं। *हम अपने को बुद्धिजीवी माननेवाले शिक्षित भारतीय, जो जाति-प्रथा की निन्दा करते नहीं थकते...स्वयं में एक ऐसी 'जाति-व्यवस्था' बन चुके हैं जो परम्परागत जाति-व्यवस्था से कई गुना अधिक बहिष्कारप्रवण और असहिष्णु है।* समय की पुकार यही है कि हम वास्तविक भारतीय 'लोक' के सांस्कृतिक स्तर से अपने को तदात्म करें और उनके साथ मिलकर ऐसी संस्कृति को विकसित करने में अपना योगदान करें जो काल-गति के अनुरूप भी हो और हमारी देसी प्रतिभा की भी स्वाभाविक अभिव्यक्ति हो। तभी वह चीज संभव होने की नौबत आएगी जिसे हमने 'वैचारिक स्वराज' कहा है।

10 सितम्बर, 86

आज रामस्वरूपजी भोजन पर हमारे यहाँ पधारे। बहुत अच्छा लगा इतने अरसे बाद उनसे मिलना-बतियाना। दिलीप चित्रे की फिल्म 'गोदाम' जो कल हम लोगों ने देखी थी उसकी चर्चा छिड़ी। रामस्वरूपजी को वह अच्छी नहीं लगी थी। उनके

मुताबिक वह 'एक्सपोर्ट क्मोडिटी' थी। उन्होंने इसे भारतीय बुद्धिजीवियों कीजिनमें कवियों से लेकर फिल्मकारों तक सभी तरह के लोग शामिल हैंबहुत बड़ी विडम्बना बताया कि वे अपने लोगों से सीखने, उनसे जुड़ने, उनसे तादात्म्य स्थापित करने की बजाय उन्हें परोसते भर हैं। रामस्वरूपजी ने एक जापानी फिल्म 'वुमन ऑव द ड्यून्स' को देखने का अपना अनुभव बताया। बोले, 'कला और अश्लीलता के बीच की विभाजन-रेखा कितनी सूक्ष्म होती है, यह पहचानना हो तो यह फिल्म देखो।'।

रामस्वरूपजी हजारीप्रसाद द्विवेदी के सर्जक रूप के तो बड़े प्रशंसक हैं किन्तु आलोचक रूप के नहीं। उनका कहना था कि रामचन्द्र शुक्ल की तुलना में द्विवेदी जी की आलोचना एकदम फीकी और बेजान लगती है।

बातों-बातों में उन्होंने आर्थर कोएस्टर के उपन्यास 'कॉल गार्स' का भी जिक्र किया। सेमिनारों और उनमें भाग लेने वाले बुद्धिजीवियों पर गहरा कटाक्ष किया गया है उसमें।

15 सितंबर 1984

कितनी क्षणिक और कितनी सम्पूर्ण है यह लीलाएकाएक अंतरिक्ष में... क्षितिज के समूचे विस्तार में दमककर धीरे-धीरे बुझ जाने वाले सांध्य रंगों की! आँखों का खुलना था यकायक, कि मैं अचकचा गया। अभी-अभीजहाँ कुछ नहीं थासिवा एक उदासीन और उजाड़ ठहरेपन के...वहाँ अब एकाएक सब कुछ था।

अब फिर वहाँ कुछ नहीं है। अन्तरिक्ष फिर खाली हैसुदूर...और अपने में अन्तर्धान! और मैं कहता हूँ, अनुभव करता हूँ गहरे अपने भीतर कहीं...कि यह वह पहले वाली बात नहीं हैयह खालीपन, यह उदासीनता...इसका अर्थ भी वह नहीं रहा जो पहले था।

मेरे भीतर एक मूक कृतज्ञता हैएक मूक विस्मय और आनन्द...सूने अन्तरिक्ष में रंगों का वह अकस्मात् विस्फोट...वह आविर्भाव जितना वहाँ था, मेरे सामने, उतना ही यहाँ भीमेरे भीतर कहींजिस तक मेरी पहुँच कदाचित् ही कभी-कभार हो पाती हैजिसे मैंने मानो...मुझसे बाहर कहीं निर्वासित कर रक्खा हैजाने-अनजाने, पता नहीं कैसे और क्यों!

हवा चल रही है भीगी-भीगी, बड़ी सुहावनी। दिन भर बादल थे, जो बरसे नहीं। और वह परसों धूप किस कदर आकर्षक लग रही थी...शायद महीने भर की बदली और बारिश की अभ्यस्त आँखों के लिए धूप की एक नई और अभूतपूर्व पहचान... शाम को मैं और ज्योत्स्ना और बच्चे छोटी झील के किनारे-किनारे टहलते हुए मंदिर तक गए थे। झील से लगा हुआ मंदिर का प्रांगण...पानी में डूबी सीढ़ियाँ...हम चुपचाप वहाँ अपने में मस्त मगन से बैठे रहे थे पानी में पैर लटकाए। टीकू को मंदिर की स्वच्छता और शान्ति...जो वहाँ धीमे स्वर में बजते भजनों के रिकार्ड से भी भंग नहीं हो रही थी...किस कदर उल्लसित कर रही थी...किस तरह उसे अपनी दिवंगता

दादीमेरी माँ कीयाद आई थी और वह उनके बारे में बताने लगी थीदेखकर मुझे कितना अच्छा लगा था। मेरे भीतर कुछ तरंगित होने लगता है ऐसे परिवेश में कभी-कभी, जो मैं नहीं जानता क्या है। यँ मैं कभी मन्दिर नहीं जाता, पूजा-पाठ भी नहीं किया कभी...उस दुनिया से कोई सम्बन्ध ही नहीं मेरा उस तरह; फिर भी...। उस दिन जब पहली बार नवीन सागर मुझे इस मन्दिर में ले गया, आरती का समय था और लोगरेकार्ड का भजन नहींसचमुच के लोग वहाँ भजन गा रहे थे, कैसा अजीब अनुभव हुआ था! पीपल के नीचे चबूतरे पर बैठे हम दोनों के बीच कितनी लम्बी और कितनी गहरी बातचीत अनायास ही हुई थी। इतनी गहरी बातचीत...हमारे लोगों और उनकी जिन्दगी के बारे में, उनकी जीवन-चर्या और उनकी धर्मचर्या दोनों के रिश्ते को लेकरशायद ही कभी किसी से हुई होगी। नवीन की संवेदना इस मामले में बहुत ही खुली संवेदना हैजैसी आज तक उसके समवयस्क किसी भी युवा लेखक में मुझे नजर नहीं आई। मुझे तो लगता है समाजवादी राजनीति के प्रति भी उसका आकर्षण और समर्पण इसी कारण है : लगभग धार्मिक, और रागदीप्त तादात्म्य लोकजीवन के साथ। जहाँ भी, जो भी परिस्थितियाँ और शक्तियाँ उसे इस सगुण-साकार जनजीवन को, उसके सौन्दर्य को क्षति पहुँचातीं, उसका शोषण करने में भागीदार बनती जान पड़ती हैं, नवीन का अन्तःकरण उनके प्रति विद्रोह से भर उठता है। वह बुनियादी तौर पर एक प्रेमी जीव है, इसी से उसके आक्रोश, उसकी घृणा में भी ऐसी निस्संग तीव्रता और तीक्ष्णता है। वह लोक से, अपने लोगों से उन्हीं के भावनात्मक अन्तर्जीवन के स्तर पर जुड़ा है : उनकी भाव-समृद्धि, उनके उत्सवी भाव और उनकी उदासीनता के साथ भी उसका अंतरंग जुड़ाव है। इसीलिए तो वह उस सगुण-साकार लोक की रक्षा और हितैषणा से जुड़ी गांधी-लोहिया-जयप्रकाश वाली राजनीति के प्रति भी एक स्वाभाविक आकर्षण और कर्मण्य संलग्नता महसूस करता है। उसका समाजवादी आवेग इसीलिए एक निरा बौद्धिक आग्रह भर नहीं है : वह उसकी भाव-ऊर्जा और नैतिक कल्पनाशीलता की अनिवार्य अभिव्यक्ति है। इसीलिए उसकी कविता भी निरी लफ्फाजी और 'आइडियोलॉजिकल रेह्टरिक' से सर्वथा मुक्त है।

उस शाम चबूतरे पर बैठे-बैठे घण्टों धर्म और धर्मनिरपेक्षता, अद्वैतवाद और बहुदेववाद, रामकृष्ण और विवेकानन्द, अरविंद और गांधी, गांधी और नेहरू, लोहिया और जयप्रकाश, गांधी और मार्क्स...अच्युत पटवर्धन और जे. कृष्णमूर्ति...जाने कितनी सारी प्रवृत्तियों और घटनाओं को लेकर बातें चलती रही थीं। तबसे महीना भर हो गयाउस तरफ जाना नहीं हुआ। जबकि नवीन ने और मैंने उस शाम तय किया था कि यहीं अक्सर बैठक करेंगे और यह संवाद चलता रहेगा।

परसों उस अनुभव को एक दूसरे स्तर पर दुहराना अच्छा लगा।

मैं बरामदे में बैठा हूँ जहाँ से आकाश-अन्तरिक्ष का खासा फैलाव आँखों की पकड़ में आता है। बरसात में यहाँ बैठने की आदत छूट सी गई थी। इतने दिनों बाद यहाँ बैठना कितना अच्छा लग रहा है! आँखों का दर्द भी जाने कैसे भूला रहा इस

बीच!

मुझे प्रकाश और खुलापन चाहिए। मुझे रंग भी चाहिए। रंग मुझे कहीं बहुत भीतर से पकड़ते हैंरंग मुझे मेरे भीतर अदृश्य हो गई उस दुनिया में उठा ले जाते हैं, जिससे मैं अक्सर ही कटा रहता हूँ। और...फिर भी, जो मेरी, निहायत अपनी, बेहद अपनी दुनिया है। मुझे इन दोनों दुनियाओं को आपसी विग्रह और असामंजस्य से, टूट-फूट से बचाना है। दोनों की रक्षा करनी है एक-दूसरे से। मगर एक-दूसरे के बूते ही। क्या यह एक असंभव सी कामना है ?

कामना का प्रश्न ही नहीं। मैं ऐसा ही बना हूँ। यही मेरी फितरत है। मैं दोनों दुनियाओं का नागरिक हूँ...ऐसा होने के लिए नियुक्त और अभिशप्त सा।

परन्तु...नहीं! मुझे खतरे की घंटी सुनाई दे रही है। बेहद कर्कश और उग्र। अब मुझे इस आलोचना और चिन्तन की दुनिया से कुछ समय के लिए अवकाश ग्रहण कर लेना होगा। अन्तहीन फँसावट है यह...इतनी आत्म-सजगता। मुझे अपने को ढीला छोड़ देना होगा। अपनी आवाज सुनूँ अपनी, नितांत अपनी आवाज में ही बोलूँअपनी आवाज को प्यार करना सीखूँ। यह आत्म-स्थगन, आत्म-निषेध बहुत लम्बा खिंच गया। इससे उबरूँ-उबरूँ अपने को।

नैनीताल 25.6.85

बस में पांडेजी ने एक भेंटवार्ता का जिक्र किया। प्रेमचन्द से चन्द्रहासन ने पूछा'मनुष्य के लिए संतोष की वृत्ति श्रेयस्कर है कि असंतोष की ?' प्रेमचन्द का उत्तर था : व्यक्तिगत स्तर पर मनुष्य को संतोष ही होना चाहिए, परन्तु सामाजिक स्तर पर उसके लिए असंतोष का अनुभव, असंतोष की वृत्ति ही श्रेयस्कर है।

पांडेजी की स्मरण-शक्ति असामान्य है। पता नहीं, कैसे, प्रेमचन्द के जिक्र पर उन्हें गाँधी और टैगोर के बीच हुए उस ऐतिहासिक पत्राचार की याद हो आयी। उन्हें दोनों पत्र अक्षरशः याद थे। और फिर उन्होंने पचास बरस पहले की अपनी आँखों देखी घटना सुनायी जब गाँधीजी नैनीताल पधारे थे और भाषण के बाद अपनी झोली फैलायी थी। तब दूर-दूर के गाँवों से उनका दर्शन करने आई स्त्रियाँ सुनार के पास दौड़ पड़ी थीं अपने तन के एकमात्र आभूषणचाँदी के धागुले खुलवाने...। और, वे नाम मात्र के गहनेअपने सुहाग चिह्नभी उन्होंने गाँधी जी की झोली में डाल दिए थे। ऐसे उल्लसित भाव से, जैसे जन्म सफल हो गया हो। पांडेजी जैसे परम सात्त्विक व्यक्ति का आक्रोश उस समय देखने लायक था जब उनके मुँह से निकला, बताइए ऐसे त्याग से, ऐसे धन से सनाथ बनी कांग्रेस को ये राजीव गाँधी के चमचे नेहरू-परिवार की व्यक्तिगत मिल्कियत घोषित कर रहे हैं। वह भी कांग्रेस के शताब्दी समारोह में। इससे बड़ा अपशकुन और क्या होगा ?

शिक्षा, आधुनिकता और विकाशएक परिचर्या**

प्रस्तुति : लक्ष्मी नारायण मित्तल*

साइन्स अन्धविश्वास फैलाता है

प्रो. सामदोंग रिंपोछे

‘साइन्स ने किसी भी धार्मिक परम्परा से अधिक अन्धविश्वास फैलाया है। यह कुछ मान्यताओं से शुरू होता है। इसलिये इसे प्रामाणिक कैसे ठहराया जा सकता है। इसके फैलाये अन्धविश्वास को तोड़ना कठिन होता है। क्योंकि यह तभी निरस्त होता है जब कोई साइन्स का जानकार इसका खण्डन करता है। इसे साधारण ज्ञान की तुलना में कुछ अच्छा कहा जा सकता है क्योंकि यह कम से कम देखकर विश्वास करता है।’ यह वह मान्यता है जिसे तिब्बत की निर्वासित सरकार के प्रधानमंत्री प्रो. सामदोंग रिंपोछे ने ‘सिद्ध’ संस्थान मसूरी द्वारा बोधिग्राम में ‘शिक्षा आधुनिकता और विकास’ विषय पर आयोजित एक त्रिदिवसीय राष्ट्रीय सम्मेलन का उद्घाटन करते हुए संभागियों के सामने रखा। आगे वे कहते हैं शिक्षा बहुत से लोगों की दृष्टि से एक प्रकार की जीवन के विकास की प्रक्रिया है, जो तीन वर्गों में विभाजित है और तीनों एक दूसरे पर परस्पर आश्रित हैं और संबंधित भी हैं। इन्हे शील, समाधि और प्रज्ञा के नाम से जाना जाता है। शील में दो अर्थ छिपे हैं एक अनुशासन और दूसरा प्रयत्न। अनुशासनरहित प्रयास को ‘शील’ कहा गया है। शील के माध्यम से व्यक्ति का वाच्य और वाचक कार्य व्यवस्थित होता है, जिससे उसका मन भी व्यवस्थित हो जाता है। यही शिक्षा है। समाधि के माध्यम से पूर्ण मन को और पूर्ण ज्ञान से एक विषय पर एकाग्र करने का अभ्यास कराया जाता है। इससे वाचित कार्य ही नहीं मानसिक कार्य भी अनुशासित होता है। ये दो काम हो जाने पर एक तीसरा काम जो अपने आप हो जाता है, स्वयं प्रस्फुटित होता है, उसे प्रज्ञा कहा जाता है। प्रज्ञा का अर्थ

* प्रस्तुति : लक्ष्मीनारायण मित्तल, ‘सिद्ध’, हैजलवुड, लंदन केंद्र, मसूरी-248179

** ‘शिक्षा आधुनिकता और विकास’ पर ‘सिद्ध’, बोधिग्राम तल्ला में 12-14 जून 07 को आयोजित राष्ट्रीय सम्मेलन का कार्य-विवरण

है-भले प्रकार से जानना अर्थात् साक्षात् देखना। इस ज्ञान में प्रामाणिकता होती है। हम भ्रमित रहते हैं कि हम जानते हैं यथार्थ में हम जानते नहीं हैं केवल मानते हैं। जानने व मानने का भेद जानना बहुत महत्वपूर्ण है। अभी तो चीजों को 90 प्रतिशत मान लिया जाता है, चिंतन और मनन के माध्यम से उसे स्वज्ञान के रूप में परिणत नहीं किया जाता। जो ज्ञान स्वज्ञान में परिणत हो, उसे प्रज्ञा कहा जाता है। यह प्रमाणित ज्ञान होता है। इस प्रकार की शिक्षा में प्रवेश पाने के लिये मनुष्य को तीन प्रकार के ज्ञान की आवश्यकता होती है। इसमें पहला है-श्रुतिमय ज्ञान (सुना सुनाया ज्ञान)। इसे स्वज्ञान नहीं कहा जा सकता। क्योंकि यह उधार लिया ज्ञान होता है। इस उधार के ज्ञान को स्वयं परिचित करके, चिंतन के माध्यम से, जांच पड़ताल करके जब साक्षत् कर लिया जाता है तब उसे भावनामय ज्ञान कहते हैं। जब तक इन तीनों (श्रुतिमय, चिन्तनमय और भावनामय) ज्ञानों का क्रम पूरा नहीं होता तब तक प्रज्ञा प्रस्फुटित नहीं होती। जब प्रज्ञा प्रस्फुटित होती है तब ही मनुष्य सही ज्ञान प्राप्त करता है। जो जैसा है उसे वैसा ही समझना शिक्षा है। जिस तरह की शिक्षा की परिकल्पना आप कर रहे हैं उसमें यह संभव नहीं है।

इस ज्ञान को विद्या भी कहते हैं। विद्या मात्र परम्परा में होती है। आधुनिकता में विद्या नहीं। यह उसकी कमी है। आज साइन्स को बड़े ज्ञान के रूप में माना जा रहा है। पर साइन्स ‘ज्ञान’ तो हो सकता है ‘विद्या’ नहीं। विद्या इसलिये नहीं हो सकता क्योंकि यह परम ज्ञान के श्रोत से नहीं आया है। यह साधारण मनुष्य का जो अव्यवस्थित, अशिक्षित चित्त है, इन्द्रिय ज्ञान है, उसके साथ कुछ प्रयोग करता है आगे चलकर वे प्रयोग बदल जाते हैं। लेकिन जब प्रयोग करके कभी अचानक कुछ पा जाते हैं, तो कहा जाता है कि यह कठिन है और लोग आँख मूंद कर उसे मानने लग जाते हैं।

आनन्द कुमार स्वामी ने परम्परा को बहुत अच्छे ढंग से परिभाषित किया है। वे कहते हैं सभी प्रचलित तौर-तरीके परम्परा नहीं होते। परम्परा वह ज्ञान है जो प्रमाणित श्रोत (Reliable Source) से आता है और जिसकी संतति निरन्तर आगे बढ़ती रहती है। यह एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति में बढ़ता है और इसे तार्किक व सामान्य ज्ञान से प्रमाणित किया जा सकता है। प्रमाणित ज्ञान को ‘विद्या’ कहते हैं। विद्या शाश्वत है, इसमें कोई संशोधन नहीं होता। संशोधन इसलिये नहीं होता क्योंकि यह देखकर, जानकर व प्रमाणित स्रोत से आई होती है।

साइन्स मान्यताओं पर आधारित होता है। लेकिन वह घटिया चीज नहीं है। न ही नितान्त अनुपयोगी है। साइन्स चीजों का विश्लेषण करता है, चीजों को गहराई से देखता है, उसमें कुछ अच्छी चीजें भी हैं। साधारण ज्ञान से तो वह निश्चय ही बेहतर है। परन्तु यदि अच्छा और गलत का प्रतिशत निकालने का प्रयास करें, तो साइन्स अधिक विनाशकारी तथा कम निर्माणकारी है। इसलिये शिक्षा का विषय ‘विद्या’ होना चाहिये। सूचनाओं के बोझ को व्यक्ति के दिमाग में ठोक-ठोक कर भर दिया जाय

और उससे उस व्यक्ति का चित्त अथवा मन संकुचित हो जाय तो वह शिक्षा कदापि नहीं है। कृष्णमूर्ति कहते हैं The purpose of education is awakening the inner intelligence of man which will lead to flowering in goodness. शिक्षा का उद्देश्य मनुष्य की प्रज्ञा व करुणा को जगाना है। कोई भी प्रक्रिया जिस से व्यक्ति की प्रज्ञा जागृत हो सके, उसे शिक्षा कहना चाहिये। प्रज्ञा के जागरण के साथ करुणा जागृत हो ही जाती है।

आज अपने को विकसित मानने वाले देश, जो विध्वंसकारी हथियार, बम बना रहे हैं, तो वहां की शिक्षा कैसी होगी, इसके बारे में आप सोच ही सकते हैं। आधुनिक सभ्यता शैतानी सभ्यता है। इस सभ्यता से मनुष्य का कल्याण नहीं हो सकता। गान्धी जी ने इसे शैतानी सभ्यता इसलिए कहा था क्योंकि इसमें मात्र स्वार्थ की बात होती है। आज गान्धी जी की बात सही साबित होने पर विद्वान उसे स्वीकार नहीं करते क्योंकि उन्हें डर है कि यदि वे ऐसा कहेंगे तो उन्हें पिछड़ा घोषित कर दिया जाएगा।

विकास शब्द का बहुत प्रयोग होता है। वृद्धि और विकास दो अलग अलग शब्द हैं। विकास का अर्थ है संस्कृत होना, संस्कार देकर संस्कृत हो जाना, जिसमें अपने सहज होने की बात हो वह विकास है। जिसमें विकास होता है, उसमें वृद्धि भी होती है। लेकिन वृद्धि में जरूरी नहीं है कि विकास भी हो। चित्त की सम्पन्नता से ही वाह्य जगत के संसाधनों की सम्पन्नता देखी जा सकती है। राग, द्वेष लोभ का शोधन व इनको परिष्कृत करना हमने छोड़ दिया है। मनुष्य के लिये आवश्यक क्या है और अनावश्यक क्या है, इसको पहचानने की जो शक्ति है, उसे आधुनिक शिक्षा ने समाप्त कर दिया है।

सम्मेलन के प्रयोजन को स्पष्ट करते हुए 'सिद्ध' के निदेशक पवन कुमार गुप्ता ने कहा कि हमने जौनपुर की महिलाओं से बहुत कुछ सीखा है। वे कहती हैं कि आधुनिक शिक्षा फायदे की जगह नुकसान कर रही है। पढ़े लिखे लोग अपनी जड़ों से कटे जा रहे हैं। उनमें अपने समाज, संस्कृति के प्रति हीन भावना पैदा हो गयी है। गांव के पढ़े लिखे शहर में और शहर के पढ़े लिखे विदेश में फिट होते जा रहे हैं। यह शिक्षा, सापेक्ष आत्मविश्वास पैदा कर रही है। इससे बच्चे सोचने की जगह मानकर चलने लगे हैं। प्रचलित शिक्षा 'सीखने व सिखाने' पर अधिक जोर देती है जबकि शिक्षा में 'समझने-समझाने' पर अधिक जोर दिया जाना चाहिये। आधुनिक पढ़ाई-लिखाई केवल/शायद सापेक्ष आत्मविश्वास ही देती है, जो किसी दूसरे की तुलना पर आधारित होता है। निरपेक्ष आत्मविश्वास पैदा करने वाली कोई शिक्षा नहीं दी जा रही है। बच्चे पढ़-लिखकर नकलची बन गये हैं। उन्होंने कहा कि 'सिद्ध' ने महिलाओं से जो कुछ सीखा, उससे गान्धी जी को समझने की प्रेरणा मिली। 'सिद्ध' द्वारा युवाओं के साथ किये गये संवाद व चर्चाओं ने शिक्षित, सभ्य व विकसित होने की हमारी आधुनिक मान्यताओं पर सवाल खड़े कर दिये हैं।

अपनी बात को आगे बढ़ाते हुए उन्होंने कहा कि आधुनिक शिक्षा व विकास की प्रचलित मान्यताओं से भारत के बड़े नेताभी प्रभावित रहे हैं। अहमदाबाद में मिल मजदूरों की हड़ताल में गान्धी जी ने अपने भाषण में कहा था कि बाल गंगाधर तिलक और मालवीय जी दोनों का देश में अच्छा सम्मान है लेकिन वे भारत की आत्मा को नहीं पहचानते। शिक्षा का विकास व आधुनिकता से क्या सम्बन्ध है, इसको समझने की आवश्यकता है। आधुनिक साइन्स कई नई नई तरह की मान्यताओं को जन्म दे रहा है जिन्हें सही के धरातल पर जांचने की आवश्यकता है। उन्होंने कहा कि आधुनिक शिक्षा की परिणित से धरती में दो तरह के संकट दिखायी दे रहे हैं पृथ्वी के वातावरण का गर्म होना, ग्लोबल वार्मिंग तथा आपसी झगड़े व युद्ध। इनका समाधान आज की व्यवस्था में नहीं दिखायी दे रहा है।

एन.सी.इ.आर.टी. के निदेशक एवं लेखक कृष्ण कुमार इस बात से सहमत नहीं थे कि शिक्षा पर कोई महत्वपूर्ण बहस नहीं हो रही है। सचाई यह है कि दुनिया भर में ज्ञान क्या है? उसकी रचना कौन करता है? उसकी रचना प्रक्रिया क्या है? जैसे सवालियों पर बहस जारी है। शिक्षा की गहराई में जब हम उतरते हैं तो उसमें बहुत सारे अन्तर्विरोध दिखाई देते हैं जो औपनिवेशिक काल से जुड़े हुए हैं। शिक्षा की समस्याएं राज्य व समाज के अन्तर्द्वन्द्वों से जुड़ी हैं। हमारे दुःख व समस्याओं के मूल में राज्य व समाज के बीच का द्वन्द्व है। राज्य और समाज के सम्बन्धों का सवाल शिक्षा का सवाल नहीं बन पाया है। शिक्षा व्यवस्था हमारे ऊपर बोझ है। यह स्वयं में एक बड़ा दुःख है। आधुनिक शिक्षा आनन्द की जगह बोझ बन गई है। बच्चों की जो नैसर्गिक प्रतिभा है, वह नर्सरी से ही कुचल दी जाती है। शिक्षा समाज से दूर है, उसकी संस्कृति से दूर है, इसलिये यह जीवन से दूर रहेगी और व्यक्ति को तंग करेगी ही। आज की शिक्षा व्यवस्था अच्छा प्रदर्शन करने वालों और न कर पाने वालों, दोनों के साथ अन्याय करती है।

उन्होंने कहा कि जब शिक्षा को समझने जाते हैं तो इसे समूची व्यवस्था के परिप्रेक्ष्य में समझना होगा, मात्र शिक्षा के दायरे में नहीं। इसका समाधान मात्र शिक्षा के दायरे में नहीं है। शिक्षा एक दैनिक मंजाई है, जिसका परिणाम निरंतर प्रयास के बाद ही देखा जा सकता है। गान्धी जी की बुनियादी तालीम व ग्राम स्वराज की कल्पना हमारे लिये प्रेरक विचार थे व रहेंगे। राष्ट्रीय पाठ्यचर्या पर जो महत्वपूर्ण काम हुआ है उसका पहला सिद्धान्त है शिक्षा स्कूल के अन्दर के जीवन व बाहर के जीवन में एक पुल बनाए। दूसरा सिद्धान्त है कि वह पाठ्यपुस्तकों से आगे जाए। इनसे आगे जाना ही शिक्षा है। पाठ्यपुस्तकें साधन हैं, मंजिल नहीं। उन्होंने कहा कि शिक्षा में बड़ी कमी यह है कि हम राज्य से जूझने में संकोच करते हैं। राज्य व सरकार से परहेज करने से काम नहीं चलेगा। राज्य ही तो विकास के इस मॉडल का मुख्य प्रचारक है, सब गड़बड़ियों का मूल 'औपनिवेशिक राज्य' है। इसलिये इसे स्वीकार करना पड़ेगा

और इसे 'स्व' के काबू में करना होगा। किशन पटनायक कहा करते थे कि दुनिया से भागें नहीं, इसे बदलें। प्रचलित शिक्षा में जो लोग असफल रहे हैं वे जीवन के दूसरे मुकाम पर सफल रहे हैं। ऐसे लोगों को शिक्षा का हिस्सा बनाना चाहिये।

सर्व शुभ अभियान के रणसिंह आर्य का सवाल था कि धरती पर किसी तरह की कमी नहीं दिखती है फिर भी मानव जाति असुरक्षा में क्यों है? भारतीय मानस व समाज से सहयोगी बनकर प्रकृति से प्राप्त करने का, बांटकर जीने का भाव कहाँ चला गया? दुनिया की सरकारें सही करने के प्रयास में असफल क्यों हो रही है? इनके उत्तर पाने के लिये वे आधुनिकता को ठीक से पहचानने की आवश्यकता पर जोर देते हैं। आधुनिकता का सिद्धांत यूरोप से निकला है। इसलिये यूरोप के समाज को व उसके भूगोल को समझना भी वे आवश्यक मानते हैं। आधुनिकता की विशेषता है हिंसा, शोषण व साम्राज्यवाद। या तो नियंत्रण करो या फिर खत्म कर दो। भारत के अधिकांश पढ़े-लिखे लोग आधुनिकता के शिकार हैं। पिछले 50 वर्षों में आधुनिक शिक्षा बढ़ी है। साथ ही प्रकृति से लूट-खसोट व असंतुलन भी बढ़ा है। आधुनिकता तीन उन्मादों का नाम हैलाभोन्माद, कामोन्माद और भोगोन्माद। इनसे कैसे मुक्ति पाएं, यह महत्वपूर्ण सवाल है। इसलिये आधुनिकता की आलोचना करने से बात नहीं बनेगी। राज्य का तंत्र स्वयं बहुत कमजोर है। हमारे पास विकल्प नहीं होने के कारण यह चल रहा है। मनुष्य की स्वतंत्रता की बात आधुनिकता में होती है, किन्तु अधिकार की मांग उसे परतंत्र बनाती है। जबकि स्वत्त्व के दृष्टिकोण से वह पूर्ण है।

उन्होंने कहा कि अस्तित्व में शासन नहीं है, व्यवस्था है। हर एक स्वयं में एक व्यवस्था है तथा बड़ी व्यवस्था में भागीदार है। वर्तमान शिक्षा, मीडिया, सरकार व बाजार ने मनुष्य का विवेक छीन लिया है और जो गैर सरकारी प्रयास समाधान की बात कर रहे हैं, वे भी भारतीय समाज को तोड़ने का प्रयास कर रहे हैं। दुनिया की सारी व्यवस्थाएं चरमरा रही हैं। परन्तु भारतीय समाज में अभी भी सम्भावनाएं बची हैं। इन सम्भावनाओं के आधार पर हम समाधान का श्रोत बनें, समस्याएं स्वतः ही हल हो जाएगी।

नेशनल इन्स्टीट्यूट ऑफ ओपन स्कूलिंग के चेयरमैन एम.सी.पन्त कहते हैं कि आज की शिक्षा 'लर्निंग टु डू' तक ही सीमित होकर रह गई है जबकि उसे 'लर्निंग टु नो' की ओर अग्रसर होना चाहिये। जिस तरह की प्रतिद्वन्दिता की ओर आज बच्चों को ढकेला जा रहा है उससे वे 'रॉ मैटिरियल' बन रहे हैं। कृष्णमूर्ति फाउन्डेशन की पूर्व प्रिन्सीपल गीता अय्यर मानती हैं कि वर्तमान शिक्षा बच्चों को लकीर का फकीर बनाती है। इसका जीवन से, परिवेश से जुड़ाव नहीं है। उनका जोर शिक्षण को प्रश्नोन्मुख बनाने और शिक्षकों को आत्मालोचन की ओर अग्रसर करने पर है। इसी तरह मध्यप्रदेश के एक वरिष्ठ शिक्षा अधिकारी धीरेन्द्र चतुर्वेदी का मत है कि सरकार

द्वारा चलाये जा रहे कार्यक्रम कागजों तक ही सीमित रह जाने के कारण उनमें से शिक्षक और बच्चे लुप्त होते जा रहे हैं। यह शिक्षा बिल्कुल भी तृप्तिदायक नहीं है। शिक्षकों को इसमें कोई सार्थकता दिखाई नहीं देती। इसलिये वे पढ़ने-पढ़ाने में रुचि नहीं दिखाते।

मानवीय शिक्षा संस्थान, कानपुर से जुड़े कुमारसंभव विकास की चार मान्यताएं गिनाते हैं- (1) व्यक्ति पढ़ा-लिखा हो, (2) परिवार में अधिक से अधिक साधन हों, (3) सुरक्षा के लिये अधिक से अधिक हथियार हों, और (4) सम्पूर्ण प्रकृति कब्जे में हो। ये चारों मान्यताएं व्यक्ति के शोषण और प्रकृति के विनाश की ओर ले जाती हैं जबकि शिक्षा को यह सिखाना चाहिये कि हर व्यक्ति में समझ-विवेक विकसित हो, हर परिवार भौतिक रूप से समृद्ध हो और प्रकृति से साहचर्य हो। आई आई टी, हैदराबाद के निदेशक राजीव संगल बताते हैं कि उनके संस्थान में आने वाला हर छात्र अच्छा पैसा दिलाने वाली नौकरी के लिये पढ़ने आता है। लेकिन नौकरी पा लेने पर भी वह संतुष्ट नहीं होता। वे मानते हैं कि मनुष्य का अन्य मनुष्यों के साथ और प्रकृति के साथ कैसे सम्बन्ध हो इस बात की समझ शिक्षा से प्राप्त होनी चाहिये। केरल पब्लिक स्कूल जमशेदपुर की निदेशक विजयम कर्था, एस.सी.इ.आर.टी. उत्तराखण्ड के निदेशक सी.एस.ग्वाल, पूर्णा लर्निंग सैन्टर के जयराम एन.सी.इ.आर.टी. में कार्यरत शंकर शरण भी पुस्तक केन्द्रित शिक्षा व्यवस्था से असंतुष्ट दिखाई दिये। उनका जोर शिक्षा में आधुनिकता का हमारे पारम्परिक ज्ञान से जोड़ने पर रहा।

सेवाग्राम की नई तालीम परिषद के सचिव शिवदत्त अंग्रेजों द्वारा करवाये गये एक शोध के हवाले से कहते हैं कि मद्रास, बंगाल और बिहार प्रान्तों में प्रत्येक गांव में कम से कम एक स्कूल अवश्य था और उनमें हर जाति के लड़के पढ़ते थे। उनमें ज्ञान और कौशल दोनों की शिक्षा दी जाती थी। शिक्षा के जरिये ही अंग्रेजों ने औपनिवेशिकता का विस्तार किया। नौकरी के लिये दी जाने वाली शिक्षा शिक्षित को गुलाम बनाती है क्योंकि हर नौकर गुलाम ही होता है। अभ्युदय संस्थान रायपुर के सोमदेव त्यागी की चिन्ता लोगों में बढ़ते व्यक्तित्व के दोहरापन को लेकर थी। वे कहते हैं कि हमारी आस्थाएं तो अध्यात्म में हैं पर हम जीना भौतिकवाद में चाहते हैं। इसी तरह हमारी आवश्यकताएं असीमित हैं पर साधन सीमित हैं। इसी से अव्यवस्था फैल रही है। गान्धीवादी अरुण कुमार ने कहा कि विचार और जीवन शैली के बीच के भेद ने हमारे द्वन्द्वों को उभारा है। आधुनिक विकास के लिये वे विस्थापन और प्राकृतिक असंतुलन को आवश्यकभावी बताते हैं।

लेखक एवं समाजकर्मि सुरेश पण्डित कहते हैं कि मैं क्या हूँ? समाज में मेरी क्या हैसियत है? मैं कैसे अपना भला करते हुए समाज का भला कर सकता हूँ? जैसे सवाल मनुष्य में जानने, खोजने और पता लगाने की प्रक्रिया को विकसित करते हैं। जिस समुदाय में मनुष्य रहता है उसके जीवन मूल्यों तथा परिप्रेक्ष्यों के प्रति हमारी

अध्ययनशीलता एक अन्वेषणात्मक दृष्टि प्रदान करती है। इससे हमारा बौद्धिक, शारीरिक एवं भावनात्मक विकास होता है। वर्तमान शिक्षा समाज की आकांक्षाओं को पूरा करने में असमर्थ है। वह नियामक वर्ग के एजेंडे को पूरा करती है। सभी देशों में सरकारी शिक्षा मानव सभ्यता को नष्ट करने पर तुली है। यदि शिक्षा में आत्म सजग बनाने की क्षमता होती तो आज समूची सृष्टि विनाश की ओर नहीं बढ़ती। आधुनिकता का मतलब व्यक्ति द्वारा स्वयं पर थोपी गई उस अपरिपक्वता से मुक्ति है जिसके चलते वह स्वयं की समझ का उपयोग करने में असमर्थ होता है। लक्ष्मी आश्रम कौसानी की राधा बहन का कहना था कि हम औपनिवेशिक शिक्षा को कोस भी रहे हैं और ढो भी रहे हैं। बुनियादी तालीम को नकारने से ही यह स्थिति आई है। उन्होंने सवाल किया कि शिक्षा आधुनिकता को रूप दे या आधुनिकता शिक्षा को? जो विकल्प की बात कर रहे हैं आश्चर्य है वे भी अपनी शिक्षा को इसी पारम्परिक ढांचे में फिट करना चाहते हैं।

लेकिन विख्यात लेखक एवं विचारक नन्द किशोर आचार्य के अनुसार आधुनिकता अपने समय की परिस्थितियों की पहचान व उसके समाधान के लिये अपनी परम्परा से निकले ज्ञान को परिष्कृत भी करती है। वे मानते हैं कि जो परम्परा में नहीं है वह आधुनिक भी नहीं है। तकनीकी को अपनाना एक जीवन शैली को अपनाना है। आज राज्य की अवधारणा ध्वस्त हो रही है क्योंकि वह अपने फैसेले स्वयं नहीं ले पा रहा है। उसकी भूमिका अन्तर्राष्ट्रीय कोर्पोरेट के एजेन्ट की तरह है। साइन्स का मतलब प्रकृति के नियमों को समझना है इसमें जब तकनीकी जुड़ जाती है तब समस्या पैदा होती है। शिक्षा कोई आर्थिक प्रक्रिया नहीं है। उसे सांस्कृतिक प्रक्रिया बनाना होगा। जो समाज दूसरों के श्रम व चिन्तन पर निर्भर रहता है वह कभी सशक्त नहीं हो सकता।

‘सिद्ध’ के वरिष्ठ कार्यकर्ता शोभनसिंह, अनुराधा गुप्ता, जितेन्द्र शर्मा, जयपाल राणा, विनीश गुप्ता तथा करुणा मोरारजी का मानना था कि वर्तमान शिक्षा बच्चों में संस्कृति, समाज, भाषा व बोली के प्रति हीन भावना पैदा कर रही है। इसके लिये उन्होंने पाठ्य पुस्तकों को जिम्मेदार ठहराया और परिवेश से सीखने वाली शिक्षा को उपयोगी बताया। शिक्षा को मानने की जगह जानने की ओर ले जाने की वकालत की और इसके लिये शिक्षक में गुणात्मक परिवर्तन लाने पर जोर दिया। वेंकटेश राजन की चिन्ता यह थी कि आज की शिक्षा में अच्छे आदमी होने की कोई जगह नहीं है। स्वयं के अध्ययन से इसका कोई लेना देना नहीं है। जबकि यह सबसे अधिक आवश्यक है।

अन्त में ‘सिद्ध’ के निदेशक पवन कुमार गुप्ता ने कहा कि हम सबकी ‘शिक्षा आधुनिकता और विकास’ को लेकर चिन्ताएं-प्रतिक्रियाएं लगभग एक जैसी हैं लेकिन

हम सब अलग-अलग हैं। यदि हम साथ आये और मिलकर काम करें तो स्थितियों को बदलने की संभावना बन सकती है। व्यवस्था हमारा साथ नहीं देगी। हमें ही छोटे-छोटे प्रयोग करते हुए अपनी राह तलाशनी होगी। वे कहते हैं कि स्वतन्त्रता मनुष्य की मूल चाहना है। हम आरोपित विचारों, मान्यताओं के भंवर जाल में फंसे हैं और यह मानने लगे हैं कि इनसे निकलने का कोई उपाय नहीं है। यदि हम परिस्थितियों से समझौता कर लेंगे तो उनसे पार कैसे पायेंगे? हमें क्यों पढ़ायें और क्या पढ़ायें के सवालों पर ध्यान देना होगा और कैसे पढ़ायें की बात को शिक्षक पर छोड़ देना होगा।

आकांक्षाएँ

उदयन वाजपेयी*

[दस फरवरी 2007 को सी.एस.डी.एस. नई दिल्ली ने धर्मपाल पर गोष्ठी आयोजित की थी। यह गोष्ठी धर्मपाल-विचार के आलोक में भारतीय सभ्यता के स्वरूप पर विचार-विमर्श के लिए थी। इसमें जीत ओबेरॉय, आशीष नन्दी, सुरेश शर्मा, मधु किश्वर, गीता धर्मपाल, जितेन्द्र बजाज, संगीता गुन्देचा, अरुण कुमार, रणसिंह आर्य आदि अनेक विद्वान विचारक, लेखक और सामाजिक कार्यकर्ता शामिल हुए थे। यह निबन्ध उसी गोष्ठी के लिए धर्मपाल जी की उन आकांक्षाओं को लेकर लिखा गया था जो उनके जीते-जी पूरी नहीं हो सकी थीं और जिनपर काम करने को वे महत्त्वपूर्ण मानते रहे थे। पिछले दस-बारह बरसों से मैं धर्मपाल जी के काफी निकट रहा हूँ। उनके काम से मैं इससे भी पहले से वाकिफ़ रहा हूँ। शायद 1993 में वे किसी विचार-गोष्ठी के सिलसिले में भोपाल आए थे। उनसे पहली मुलाकात में ही मुझे लगा कि वे जितने विचारशील और प्रश्नाकुल व्यक्ति हैं, उतने ही सहज और आत्मीय भी। मैं उन दिनों अगरिया जनजाति पर एक डॉक्यूमेंट्री फिल्म पर काम कर रहा था। तब ही मण्डला के चाड़ा गाँव से लौटा था। वहाँ मैंने इस पारम्परिक लोहा बनाने वाली जाति को नजदीक से देखा था। उसी के सहारे यह भी समझा था कि किस तरह औपनिवेशिक व्यवस्था ने धीरे-धीरे हमारे पारम्परिक धन्धों, कौशलों और सामुदायिक आत्म-छवियों को नष्ट किया है। और यह भी कि किस तरह इस तमाम विनाश को प्रश्नांकित करती आवाजों को स्वतन्त्र भारत में भी अनसुना किया जाता रहा है जिसके फलस्वरूप हमारा सामुदायिक जीवन निरन्तर विपन्न होता गया है। हम स्वतन्त्र होकर भी आर्थिक दृष्टि से और न सांख्यिक दृष्टि से सम्पन्न हो पाए। ऐसे समय में धर्मपाल जी से मिलने से अधिक बेहतर कुछ नहीं हो सकता था। हमारी उस मुलाकात के कुछ बरस बाद मैं उनसे लम्बी बातचीत रिकार्ड करने मसूरी गया। मेरे साथ हिन्दी पत्रिका 'बहुवचन' के सहसम्पादक प्रभात रंजन भी पूरे उत्साह से गए। धर्मपाल जी

* धर्मपाल जी का लगभग सारा लेखन अब हिन्दी और गुजराती में अनुदित हो गया है। इसे मैं बेहद महत्त्वपूर्ण कार्य मानता हूँ। इसे अहमदाबाद के पुनरुत्थान ट्रस्ट ने कई खण्डों में सुन्दर ढंग से प्रकाशित किया है। मुझे आशा है कि धीरे-धीरे यह सारा लेखन दूसरी भारतीय भाषाओं में भी आ जाएगा।

वहाँ पवन गुप्ता और अनुराधा जोशी के घर ठहरे थे। वहाँ बादलों से घिरे पहाड़ पर हमने दो या तीन दिनों तक बातचीत की जिसे प्रभात ने बड़ी ही कुशलता से रिकार्ड किया। बाद में यह बातचीत 'बहुवचन' में और फिर 'मति, स्मृति और प्रज्ञा' नाम से पुस्तकाकार प्रकाशित हुई। इसके बाद के वर्षों में वे कई बार भोपाल आए और मैं कई बार सेवाग्राम जाता रहा। उनके साथ बातें करना दरअसल भारत की सभ्यता को तरह-तरह से देखने का प्रयास करना था। मानो उनके दिमाग में तमाम सभ्यताओं के अन्तर्सम्बन्धों का ताना-बाना उपस्थित हो और इनके बीच में ही कहीं भारतीय सभ्यता का रूप दिखायी दे रहा हो। यह सच है कि उनके विचार का केन्द्रीय विषय भारतीय सभ्यता ही रहा है पर वे यह विचार भारतीय सभ्यता को अन्य सभ्यताओं के सामुज्य में रखकर किया करते थे। उन्हें पढ़कर और उनसे मिलकर हर बार भारत और विश्व को देखने का एक नया कोण मिलता था। उन्हें यह एहसास था कि समकालीन विश्व में भारतीय सभ्यता की सम्भावना को चरितार्थ करने का कोई सीधा-सरल रास्ता उपलब्ध नहीं है, इसके लिए हमें इस सभ्यता के स्वरूप और स्वभाव और साथ ही अन्य सभ्यताओं के स्वरूप और स्वभाव को गहराई से समझना होगा। तभी हम उस स्थिति में आ सकेंगे जहाँ हम अपनी सभ्यता को तिरस्कृत करने या उसकी छिछली व्याख्या को चरितार्थ करने की जगह उसकी सृजनात्मकता को दोबारा सक्रिय कर सकें।

यह निबन्ध इस उम्मीद से लिखा गया था कि इसे पढ़कर कुछ नौजवान अध्येता इन दिशाओं में शोध और विचार करने को प्रेरित होंगे। एक तरह से यह धर्मपाल जी की ओर से उन्हीं अध्येताओं को लिखा पत्र है।]

1

अपने सारे पुराने साहित्य को देख-समझकर अपने चित्त व काल की एक तस्वीर बनाने और उस तस्वीर में आधुनिक विश्व और उसकी वृत्तियों को उपयुक्त स्थान देने का काम हम कर नहीं पा रहे।

(धर्मपाल, भारतीय मानस चित्त और काल)*

कुछ बरस बीत गए जब धर्मपाल जी ने भोपाल में एक व्याख्यान दिया था। आपमें से जिन्होंने उन्हें बोलते सुना होगा, उन्होंने महसूस किया होगा कि उनका बोलना बेहद खुला हुआ करता था। वे बहुत सोचकर सोचते हुए बोलते थे। मानो वे आपको संसार को एक अलग से देखने का न्यौता दे रहे हों। वे पूरे आत्मविश्वास से बोले कि भारत के कुछ जिलों से सरकार को सिरे से हट जाना चाहिए। प्रयोग के तौर पर कुछ जिलों से शासकीय व्यवस्थाओं और तन्त्र को पूरी तरह हट जाना चाहिए। उनके यह बोलते ही वहाँ अजीब-सी उद्विग्नता फैल गई। वैकल्पिक व्यवस्थाओं का विचार बहुत हुआ करता है। लेकिन उसमें नई शासन-व्यवस्थाओं की चिन्तन-सृजन वर्ष-5 अंक-1

चर्चा हुआ करती है पर धर्मपाल जी तो कुछ अलग ही कह रहे थे। पूरी गम्भीरता से कह रहे थे। वे दोबारा वही कह रहे थे, 'कहीं और नहीं तो आपके मध्यप्रदेश के कुछ जिलों से शासकीय तन्त्र को हटा लेना चाहिए।' उनका आशय यह था कि न सिर्फ वहाँ से शासकीय अधिकारी, कर्मचारी आदि हटा लिये जायें, पर जो भी राजस्व एकत्र करने आदि की व्यवस्थाएँ हैं, उन्हें भी सीधे-सीधे साधारण लोगों को सौंप दिया जाये। वे सोचते थे कि ऐसा करने पर शुरू में उन जिलों के समाजों को व्यवस्थित होने में कुछ दिक्कतें पेश आएंगी पर धीरे-धीरे ये साधारण लोग अपने समुदायों, गाँवों आदि की सभी व्यवस्थाएँ खुद करना शुरू कर देंगे। और ये व्यवस्थाएँ, वे सोचते थे, आज की व्यवस्थाओं से बेहतर ही होंगी और उनमें पारम्परिक भारतीय सामाजिक व्यवस्थाओं की झलक तो होगी ही साथ ही उनमें यहाँ के लिए उपयुक्त नई व्यवस्थाओं की सम्भावना भी दिखाई दे सकती है। उनका यह प्रस्ताव कुछ-कुछ अटपटा-सा लग सकता है, मुझे यह लिखते समय लग भी रहा है, पर ध्यान से देखने पर इसमें भारत के साधारण लोगों के सांगठनिक सामर्थ्य पर उनका असीम विश्वास नजर आता है। शायद वे सोचते थे कि स्वयं को छोटी-छोटी इकाइयों में व्यवस्थित करने का भारतीय समाज का पारम्परिक विवेक अब भी किसी हद तक हमारे भीतर बचा हुआ है और उचित अवसर मिलने पर वह दोबारा अपने को प्रकट कर सकता है। मुझे याद है कि जब कुछ श्रोताओं ने यह प्रश्न किया कि क्या ऐसा करने से अराजकता नहीं फैल जाएगी, वे हल्का-सा मुस्कराकर बोले थे, 'कुछ देर के लिए ऐसा हो सकता है पर जल्दी ही कोई व्यवस्था उसमें से निकलकर आ जाएगी। वह जैसी भी होगी, आज से बेहतर होगी।' मैं हमारे देश के ही नहीं, दुनिया के ऐसे किसी विचारक को नहीं जानता जिसमें साधारण लोगों के विवेक और स्मृति पर इतना गहरा विश्वास हो।

2

अपने निबन्ध 'भारतीय व्यवस्था' में वे लिखते हैं :

यह भी है कि 1947 से 49 तक भारतीय संविधान के बनने के समय अंग्रेजों के हाथों तैयार की गई भारतीय राजसत्ता के संस्थागत ढाँचे में अंग्रेजीकृत या पश्चिमीकृत भारतीय शक्ति और निर्णय के स्थान पर काबिज हो गया इसलिए पुराने भारतीय विधानों की ओर लौटना कहीं अधिक कठिन था। जब पारम्परिक भारतीय संवेदना को स्थानीयता की प्राथमिकता स्थापित करना कठिन जान पड़ा तो वह जातियों पर जोर देने की ओर मुड़ गई। यह तथ्य ठीक से समझा नहीं गया कि स्थानीयता (या आंचलिकता) और जातियाँ एक-दूसरे की पूरक हैं और बिना एक दूसरे की उपस्थिति के क्रियाशील नहीं हो सकतीं। इससे भी आगे यह बात भी अच्छी तरह पहचानी नहीं गई कि स्थानीयताओं की प्राथमिकता ही उन्हें

आपस में सम्बद्ध कर व्यापक भारतीय व्यवस्था और इस तरह भारतीय सभ्यता की रचना किया करती थी।

(धर्मपाल, कलेक्टेड राइटिंग्स, भाग पाँच, पृष्ठ 138)

न अंग्रेजी शासन और न स्वतन्त्र भारत के अधिकांश अध्येताओं ने जातियों और अंचलों के अन्योन्याश्रित सम्बन्धों को वैसे रेखांकित करने की चेष्टा की जैसा कि धर्मपाल जी ने किया। यह रेखांकन महत्त्व का है। अंचल को निरपेक्ष मानकर जातियों पर विचार करना समझ की खोट है। हम सभी इसी खोट के शिकार होते रहते हैं क्योंकि तमाम जातियाँ अपने विशिष्ट अंचलों में ही विशिष्ट अर्थ ग्रहण करती रही हैं। और ये अर्थ कमोबेश उनके आपसी सम्बन्ध से उपजते रहे हैं। अपने इसी निबन्ध में धर्मपाल जी ने यह दिखाया है कि कैसे संविधान निर्माताओं ने स्थानीयता को स्वतन्त्रता-प्राप्त भारत की व्यवस्था की इकाई बनाने से गुरेज किया और इसकी जगह 'स्थानीयता-निरपेक्ष' व्यक्ति को इसकी इकाई बनाया। इसका परिणाम यह निकला कि स्थान या अंचलों से विलगित जातियाँ हमारी राजनीति के केन्द्र में आ गईं और इनका मनचाहा उपयोग हमारे विभिन्न राजनैतिक दल करने में जुट गए। धर्मपाल जी जानते थे कि हमारे पास जातियों के अन्तर्सम्बन्ध का कोई व्यापक अध्ययन नहीं है, विशेषकर अंचलों और उनमें रहती विभिन्न जातियों के अन्तर्सम्बन्धों के अध्ययन तो सिरे से ही नदारद हैं। लगभग डेढ़-सौ बरस पहले सन् 1872 के एम.ए. शेरिंग ने बनारस और उसके आस-पास के अंचलों में जातियों का एक विशद अध्ययन किया था पर उसमें उनके गहरे पूर्वग्रह काम कर रहे थे। वे लगातार जातियों की व्यावहारिकता को वर्णों के सैद्धान्तिक ढाँचे में डालकर इन दो स्तरों को एक मानने की कोशिश करते हैं। पर तब भी उन्होंने जातियों का स्थूल ही सही, वर्णन अवश्य किया है। उसके बाद शायद वैसा कोई अध्ययन हमारे पास नहीं है। जातियों पर सैद्धान्तिक लेखन बहुत होगा पर उनकी क्रियाशीलता का विशुद्ध वर्णन करने की आवश्यकता आज भी बनी हुई है। इसलिए हम जातियों के अन्तर्सम्बन्धों पर केवल अनुमान से अपनी राय बनाते हैं और इसी आधार पर राजनीति करने और व्यवस्था बनाने की कोशिश करते हैं। अपने अन्तिम दिनों में धर्मपाल जी की गहरी आकांक्षा थी कि देश के विभिन्न अंचलों में विभिन्न जातियों के अन्तर्सम्बन्धों पर गहराई से काम हो, उसके लिए तमाम अंचलों के कुछ अध्येता मिलें और इस पर कुछ प्रामाणिक शोध करें (कुँवर सुरेश सिंह सम्पादित पीपुल ऑफ इण्डिया के खण्ड इसमें मददगार हो सकते हैं पर यहाँ जोर जातियों की लिस्टिंग आदि पर न होकर उनके अन्तर्सम्बन्धों पर हो, विभिन्न अंचलों में सामाजिक, आर्थिक, आध्यात्मिक और आनुष्ठानिक शक्ति के संचरण में उनकी स्थिति पर हो और साथ ही इसमें 'जाति-पुराणों' जैसे जाति-विषयक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का अध्ययन भी शामिल हो क्योंकि ये ग्रन्थ विभिन्न अंचलों में रहती लगभग हर

जाति की आत्मछवि को स्पष्ट करने में भी मददगार साबित हो सकते हैं। अपनी इन्हीं आत्म-छवियों के इंगित पर विभिन्न जातियाँ विभिन्न दिशाओं में क्रियाशील रही हो सकती हैं।

धर्मपाल जी का सोचना था कि किसी भी सभ्यता की जैसी भी विश्वदृष्टि या विश्वदृष्टियाँ होती हैं, वहाँ उसी के अनुरूप उद्योग-धन्धे और व्यवसाय हुआ करते हैं। दूसरे शब्दों में किसी भी सभ्यता के कैसे भी व्यवसाय अपने भीतर उस सभ्यता की विश्वदृष्टि या विश्वदृष्टियों की छवियों का न सिर्फ वहन करते हैं, उसी में बेहतर भागीदारी करने वे स्वयं को परिष्कृत करते चलते हैं। इसलिए सांख्यिक विश्वदृष्टि को भूलकर वहाँ के उद्योग-धन्धों और व्यवसायों के अध्ययन का कोई विशेष महत्त्व नहीं रह जाता। अगर इस ढंग से भारत में जातियों के अन्तर्सम्बन्धों को पहचानने की कोशिश होती है, हम शायद उससे बिल्कुल अलग निष्कर्षों पर पहुँचें जिनपर हमारी अधिकतर आधुनिक मनीषा पहुँची है। उसके बाद उन्हें स्वीकारना या नकारना, उनमें मौजूद खोटों को दूर करना या उन्हें पूरी तरह छोड़ देना, यह सब अधिक आत्मविश्वास से किया जा सकेगा। हम अपने अनुमानों के घटाटोप से बाहर निकलकर जातियों और अंचलों की स्पष्ट समझ के उजास में आ सकेंगे। फिर हम उनके विषय में क्या करते हैं या क्या नहीं करते, अधिक प्रामाणिक हो सकेगा। इतना जरूर है कि इन अन्तर्सम्बन्धों पर विचार करते समय हमें यह याद रखना होगा कि जैसे सामी धार्मिक परम्पराओं और उनसे अनुप्राणित आधुनिक विचारधाराओं में युटोपिया की परिकल्पना का उद्देश्य मानव समाज को समय के थपेड़ों से बाहर निकलकर एक तरह के शाश्वत स्थायित्व को हासिल करना रहा है जो हमेशा ही भविष्य में सम्भावना की तरह बना रहता है, उसी तरह हमारे देश के विभिन्न अंचलों में जातियों की व्यवस्था भी समाज को समय के थपेड़ों से बाहर लाकर किसी तरह का स्थायित्व स्थापित करने की आकांक्षा से उत्प्रेरित थी। अगर वह हमें मुफीद नहीं जान पड़ती, उसे हटा देना होगा लेकिन यह केवल तब हो सकता है जब हमारे पास उसकी प्रामाणिक तस्वीर मौजूद हो।

3

आत्म और अनात्म, पृथ्वी और आकाश, पिण्ड और ब्रह्माण्ड, जीवन और मृत्यु, प्रकृति और ईश्वर को देखने, अनुभव करने और व्यवहार में लाने की अलग-अलग दृष्टियाँ अलग-अलग सभ्यताओं में विद्यमान रही हैं। एक तरह से विभिन्न सभ्यताओं ने अस्तित्व को विभिन्न रूपों में सिरजा है। इन अन्यान्य विश्वदृष्टियों के अपनी तरह के सुफल और कुफल हुए हैं। यह शायद मनुष्य होने की विडम्बना हो कि इसकी कोई भी विश्वदृष्टि निर्दोष नहीं हो पाती, हरेक में किसी-न-किसी 'खराबी की सूत्र

मुझमिर' रही आती है। यह भी सच है कि इन विश्वदृष्टियों का आपस में संवाद होता रहा है और उससे इनकी अपनी पहचान नष्ट नहीं होती रही है बल्कि इसके सहारे वे अपनी इयत्ता को अक्षुण्ण बनाए रख सकी हैं। आधुनिक यूरोप की विश्वविजय के बाद शायद पहली बार ऐसा हुआ कि यह संवाद लगभग विस्थापित हो गया और इसकी जगह यूरोपीय विश्वदृष्टि का हर जगह क्रूर आरोपण होने लगा। इससे कितने लोग खुद अपने समाजों की अन्तश्चेतना के लिए पराये होते चले गए, यह बेहद करुण गाथा है। हमारे देश में भी हम तथाकथित पढ़े-लिखे लोगों के लिए यूरोपीय मनीषा ही अधिक आत्मीय बनती गई, वही हमारी सोच का मुहावरा बन गई। जिन आस्थाओं, परिपाटियों और अन्तर्दृष्टियों के सहारे हमारा व्यापक समाज जीवन-यापन करता था और किसी हद तक करता है, उससे हमारी अनभिज्ञता मूढ़ता की सीमा तक हो गई है। शायद हमने अपनी पारम्परिक विश्वदृष्टियों को बिना जाने ही त्याज्य मान रखा है। इसके पीछे मानो यह धारणा हो कि हर गैर-यूरोपीय सभ्यता की यह नियति है कि उसे आधुनिक यूरोपीय समाज की तरह बनना है और इसमें उसकी अपनी पारम्परिक विश्वदृष्टियाँ ऐसे अवरोध हैं जिन्हें छोड़कर ही हर सभ्यता अपनी यह विचित्र मंजिल हासिल कर सकती है। इससे हममें अनेक बौद्धिक स्तर पर भले ही असहमत हों, हमारे व्यापक व्यवहार में यही धारणा काम किया करती है। धर्मपाल जी इस अंधानुकरण की प्रवृत्ति को प्रश्नांकित करने का अनोखा उपाय सुझाते हैं। उनका प्रस्ताव था और इसके लिए उन्होंने अपनी वृद्धावस्था तक में पर्याप्त उद्यम किया था कि हमारे देश की सभी भाषाओं में किशोरों के लिए ऐसी पुस्तक लिखी जानी चाहिए जिसमें बेहद सरल भाषा में उन्हें तमाम महत्त्वपूर्ण सभ्यताओं की विश्वदृष्टियों की जानकारी दी जा सके। उन्हें यह बताया जा सके कि किस तरह अलग-अलग सभ्यताएँ अस्तित्व को अलग-अलग तरह से परिकल्पित करती हैं। इससे हमारे देश के युवक-युवतियाँ यह जान सकेंगे कि संसार और अस्तित्व को देखने की अनेक दृष्टियाँ न सिर्फ हमेशा से रही हैं बल्कि आज भी, आधुनिक यूरोपीय दृष्टि के लगभग सब जगह काबिज होने के बाद भी, विभिन्न शकलो-सूरत में जीवित हैं। यह जानना भर है, उसके बाद हमारे लोग अपनी विश्वदृष्टियों को स्वीकारें या अस्वीकारें, यह उनका अपना विवेक होगा पर तब वे कम-से-कम यह जान जरूर रहे होंगे कि वे किसे त्याग रहे हैं और किसे अंगीकार कर रहे हैं।

4

सत्रहवीं, अठारहवीं और उन्नीसवीं सदी में भारतीय व्यवस्था के कई सूत्रों का अध्ययन करने और उनके सहारे भारतीय समाज की बिलकुल ही नई तस्वीर प्रस्तुत करने के बाद वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि यह शिक्षितों और विचारवान लोगों की सभ्यता रही

है। तब उनकी जिज्ञासा का विषय यह बना कि अंग्रेजों के यहाँ आने से पहले साधारण लोगों के बीच कौन-से ग्रन्थ लोकप्रिय थे और किन विषयों पर यहाँ बातचीत हुआ करती थी, वे कौन-से दार्शनिक प्रश्न थे जो उन्हें उद्बलित किया करते थे। स्वतन्त्र भारत के बौद्धिकों और साधारण लोगों के बीच अंग्रेजी ढंग की शिक्षा और संस्कार के कारण आयी दूरी के कारण यह जानना कठिन था। इसलिए धर्मपाल जी महाभारत जैसे ग्रन्थों की ओर मुड़े। उन्होंने पाया कि वहाँ समाज-व्यवस्था, राजा के दायित्व, प्रकृति के स्वरूप आदि विविध विषयों पर विस्तृत संवाद हैं जो भारतीय समाज में चल रहे संवादों को किसी हद तक सूचित करते होंगे। मसलन स्त्रीपर्व का कृष्ण-गांधारी संवाद जहाँ गांधारी के इस प्रश्न के जवाब में कि अगर वे चाहते तो युद्ध को रोक सकते थे, कृष्ण कहते हैं कि क्षत्रिय स्त्रियाँ बच्चे पैदा करती ही इसलिए हैं कि वे युद्धक्षेत्र में अपनी जान दे सकें आदि। इस तरह के मार्मिक संवादों को एकत्र कर उनका अध्ययन कर वे भारतीय सांभ्यतिक मानस को किंचित अधिक गहराई से जानने की चेष्टा करना चाहते थे। मुझे याद है कि एक बार सेवाग्राम में उन्होंने महाभारत के सभी खण्ड मँगवाये और वे चाहते थे कि उन्हें काटकर उनसे सभी संवादों को निकाल लिया जाए और उनको सम्पादित कर एक लम्बी भूमिका के साथ किताब प्रकाशित की जाए। इस पर भी उनका इसरार था कि सभी संस्कृत नाटकों को इकट्ठा पढ़ा जाए और उनसे निकलते प्रश्नों को दोबारा ध्यान से देखा जाए ताकि हमारे सामने किसी हद तक वे सवाल आ सकें जो हमारे लोगों को उद्बलित करते रहे हैं, और जिसके सहारे उस मानस को कहीं बेहतर ढंग से समझने की स्थिति में आया जा सके जिसे हम मोटे रूप में भारतीय मानस कह सकते हैं। उनका प्रसिद्ध लेख, 'भारतीय चिन्त, मानस और काल' इसी दिशा में प्रयास रहा है।

5

धर्मपाल जी का सारा लेखन भारत को उसकी अपनी दिशा में ले जाने की आकांक्षा से लिखा गया था। वह विशुद्ध ज्ञानात्मक नहीं, कर्म को उत्प्रेरित करने वाला लेखन है। वह शास्त्र है उसी अर्थ में जैसे अर्थशास्त्र होता है या कामशास्त्र। उसी अर्थ में जैसे गांधी जी का 'हिन्द स्वराज' है। अगर वे साल-दर-साल अंग्रेजों के भारत सम्बन्धी दस्तावेज खोजते रहे तो इसलिए कि हम स्वतन्त्र भारत में उन अंग्रेजी मान्यताओं और संस्थाओं से निजात पा सकें जिन्होंने इस सभ्यता के जीवंत स्रोतों को अवरुद्ध कर रखा है। ऐसा कुछ हो नहीं सका। उसकी उम्मीद भी कम ही दिखती है। इसलिए कई बार मुझे लगता है कि धर्मपाल जी का अधिकतर लेखन हमारी सभ्यता के सूत्रों का स्मरण भी है और उनके छूटते जाने का शोकगीत भी। वह शायद हमारा अपना जेज संगीत है।

6

संसार में यूरोपीय सभ्यता (जिसे गांधीजी शैतानी और धर्मपाल हत्यारी मानते थे) की प्रभुता स्थायी होने से पहले क्या-कैसी विश्वव्यवस्थाएँ रही हैं ? यह पता लगने पर सन् 1421 में किसी चीनी जहाजी बेड़े ने चीन से अमरीका तक की यात्रा की थी और उसने ही पहली बार यूरोप से अमरीका के समुद्री मार्ग का नक्शा तैयार किया था, वे बेहद उत्साहित हुए थे। यह जहाजी बेड़ा चीन के मिंग घराने के तीसरे सम्राट जू डाई के नौसेना प्रमुख जियांग-ही के नेतृत्व में चीन से भारत के कालिकट होता हुआ अमरीका गया था। उस दौरान चीनी जहाज दुनियाभर में घूमा करते थे। इन सारी यात्राओं पर हाल में गेविन मेन्जीज की किताब, '1421 द इयर चाईना डिस्कवर्ड अमेरिका' प्रकाशित हुई। इसी किताब से यह उद्घाटित हुआ है कि जब कोलम्बस अमरीका गए, उनके पास वहाँ तक जाने के मार्ग का वही नक्शा था जो जियांग-ही के नेतृत्व में चीनियों ने तैयार किया था। धर्मपाल जी की इन सबमें दिलचस्पी का कारण यह था कि वे यूरो-केन्द्रित विश्व-व्यवस्था से पहले की विश्व-व्यवस्थाओं और उनमें निहित मूल्य-व्यवस्थाओं और मूल्य-सम्पदाओं को समझना और रेखांकित करना चाहते थे। उनकी आकांक्षा उन तमाम विश्व-व्यवस्थाओं को सामने लाने और उनका विशद शोध करने की थी जो हमारे संसार को यूरोप की विश्वविजय के पहले बाँधे रही थीं। वे बार-बार दोहराते रहे कि हम भारतीयों के चीन या कम्बोडिया या वियतनाम, कोरिया आदि से बहुत पहले के ताल्लुकात हैं, हमें उन्हें गहराई से जानकर उन्हें फिर से जीवन्त करने का प्रयास करना चाहिए। इसके लिए, वे चाहते थे कि पन्द्रहवीं शती के पहले के तमाम दस्तावेजों को सीधे-सीधे वियतनामी, कोरियायी, कम्बोडियायी, चीनी आदि भाषाओं में खोजा जाए, इसके लिए किसी भी यूरोपीय भाषा की मध्यस्थता को स्वीकारा न जाए। तब जाकर हमें यह किसी हद तक पता लग सकेगा कि इन तमाम देशों के लोग उन दिनों एक-दूसरे के विषय में क्या सोचते थे और उनके सम्बन्धों के क्या आधार थे। इसी समझ के सहारे हम इस बीच में टूटे हुए सम्बन्ध-सूत्रों को दोबारा जोड़ने की ओर बढ़ सकते हैं।

7

लगभग सभी पारम्परिक समाजों का प्रकृति से निकट का सम्बन्ध रहा है, एक तरह से पारम्परिक मनुष्य के संस्कार प्राकृतिक प्रक्रियाओं को देखने, सुनने और समझने के आधार पर ही बने होंगे। इसीलिए पारम्परिक समाज इस विश्वास पर गुजर-बसर करते रहते हैं कि प्राकृतिक प्रक्रियाएँ ही मनुष्य के अपने कर्म का आईना भी हैं और उसकी सीमा भी। भारतीय सभ्यता के विषय में इस तथ्य को गाँधीजी समेत अनेक चिन्तकों ने रेखांकित किया है इसीलिए वे स्थानीय साधनों की पर्याय्यता पर इतना

भरोसा कर सके थे। धर्मपाल जी भी स्थानीयता के महत्त्व को स्वीकारते थे। वे मानते थे कि जैसे प्रकृति के दूसरे जीव-जन्तु स्थानीय होते हैं वैसे ही मनुष्य भी कमोबेश स्थानीय जीव है। वैश्विक मनुष्य की कल्पना खोखली है और अगर ऐसा है तो फिर वैश्विक टेक्नोलॉजी आदि किस आधार पर उचित ठहरायी जा सकेंगी क्योंकि आधुनिक टेक्नोलॉजी के अन्तस में मनुष्य की वैश्विक छवि ही विद्यमान है। वे आधुनिक जैव-वैज्ञानिक शोधों में गहरी दिलचस्पी लेने लगे थे। वे निरन्तर जैविक प्रक्रियाओं को सूक्ष्मता से समझकर उनका विभिन्न मानवीय कार्यकलापों में प्रकटन देखने की चेष्टा करते थे। इसी का परिणाम था कि वे समाजों के चलने में अहिंसा और हिंसा दोनों की उपयोगिता को स्वीकार करने की ओर बढ़ रहे थे। जैसे प्रकृति में आमतौर पर अहिंसा ही व्याप्त है पर समय-समय पर हिंसा का हस्तक्षेप भी होता ही है वैसे ही मानव समाज को भी समझना चाहिए। इस अर्थ में न तो हिंसा को विचारधारा की हद तक स्वीकारा जा सकता है, न अहिंसा को। यहाँ इस तथ्य को याद करना शायद अर्थपूर्ण हो कि गाँधी जी ने कई बार अहिंसा के अपने विचार को खासी हिंसक शब्दावली में व्यक्त किया है। उन्होंने सेवाग्राम जैसे अपने आश्रमों को मिलिटरी अकादमी कहा है, सत्याग्रहियों को उनमें तैयार हो रहे सैनिक और स्वयं को उनका मिलिटरी कमाण्डर। धर्मपाल जी के लिए भारतीय व अन्य सभ्यताओं को समझने के सूत्र सिर्फ सामाजिक, दार्शनिक, नृत्तत्वशास्त्रीय, ऐतिहासिक अध्ययन में ही नहीं प्रकृति की सूक्ष्म प्रक्रियाओं में भी बिखरे पड़े हैं जिन्हें भारत जैसे पारम्परिक समाज अपनी तरह से अन्तस्थ किया करते हैं। शायद इसीलिए वह अपने विन्यास में सदियों तक थोड़ा-बहुत बदलाव कर उसे चलाता रहा क्योंकि प्राकृतिक प्रक्रियाओं का स्वरूप भी ऐसा ही कुछ है। वे यह चाहते रहे कि कुछ अध्येता जीव-वैज्ञानिक तथ्यों के आलोक में भारत जैसी सभ्यताओं को समझने का प्रयत्न करें।

8

अपनी मृत्यु के कुछ दिनों पहले वे सेवाग्राम से दिल्ली जा रहे थे। मैं उनसे भोपाल स्टेशन पर मिला। पता नहीं किस तुफैल में, मैं उनसे पूछ बैठा कि क्या वे पुनर्जन्म में विश्वास रखते हैं? वे बोले, इससे फर्क नहीं पड़ता क्योंकि सृष्टि की अपनी सम्पूर्णता में किसी एक के होने या दोबारा होने से कोई अन्तर नहीं आता। वह अपने अन्तःसम्बन्धों के सहारे चला करती है।

सच भी है जो व्यक्ति अपने भीतर सृष्टि की सम्पूर्णता को अनुभव करने की ओर बढ़ चला हो, उसे दोबारा या तिबारा होने से क्या हासिल? लेकिन क्या यही कुछ हमारी सभ्यता का हरेक मनुष्य के लिए लक्ष्य नहीं रहा? क्या इसे ही 'तत्त्वमसि' (तुम वह हो) जैसे महावाक्य से नहीं कहा जाता रहा? क्या इसे ही मोक्ष नाम से नहीं पुकारा जाता?

ब्रिटेन में इस्लामी उग्रवाद का विकास

शंकर शरण*

(यह लेख ब्रिटेन में रहने वाले भारतीय मूल के प्रसिद्ध लेखक और फिल्मकार फारुख ढोंडी के लगभग पचास वर्ष के अनुभवों, संस्मरणों पर आधारित है। कुछ समय से आतंकवाद की मार झेल रहे ब्रिटेन में आतंकवाद के विकास की पृष्ठभूमि और चरित्र को समझने में उनके अनुभव इसलिए भी मूल्यवान हैं, क्योंकि उन्होंने भारत या पाकिस्तान ही नहीं यूरोप में भी मुस्लिम मानसिकता को लंबे समय से प्रत्यक्ष देखा-परखा है। इस प्रस्तुति में उनके चर्चित लेख 'अवर इस्लामिक फिफथ-कॉलम' से बड़ी सहायता ली गई है।)

फारुख ढोंडी का नाम बहुतों को भ्रम में डाल देता है। उनके नियमित स्तंभ हमारे देश के अंग्रेजी दैनिकों में भी छपते हैं। उन्हें अपने लेखकीय, पत्रकारी सिलसिले में अनेक इस्लामी आतंकवादियों से मिलने, बात करने का अवसर मिलता रहा है। एक बार उन्होंने अपने स्तंभ में आतंकवादियों को दुनिया की बड़ी सीमित जानकारी होने और उनकी संकीर्ण मानसिकता का विश्लेषण किया था। तब कई मुसलमानों ने उन्हें मुसलमान किंतु मजहब-द्रोही समझकर दुर्वचन सुनाए और धमकी दी की इस्लाम में मजहब छोड़ने की सजा सिर्फ मौत है। धमकी देने वाले नहीं जानते थे कि फारुख साहब मुसलमान नहीं बल्कि पारसी हैं।

यह और बात है कि फारुख साहब के पूर्वज कभी अरब के मुसलमानों द्वारा उत्पीड़ित होकर ही अपने देश फारस (ईरान) से भागकर शरणार्थी के रूप में भारत आए थे। फारुख का बचपन पूना में बीता जहाँ उन्होंने मुसलमानों को नजदीक से देखा था। मुसलमान अपने मजहब को एकमात्र सत्य समझते थे और हिन्दुओं को पेड़ों, बंदरों और मूर्तियों के पूजक; तथा पारसियों को आग की पूजा करने वाले काफिर एवं ईसाइयों को पुराना सैन्य दुश्मन मानते थे। बचपन में ही फारुख को यह समझ में आ गया था कि मुसलमानों का मजहबी विश्वास ऐसा है कि उससे बाहर वह किसी चीज को मान्यता ही नहीं देता।

प्रायः देखा गया है कि किशोरावस्था से युवावस्था की ओर बढ़ते लड़कों में लोकतंत्र, उदारवाद जैसे विचारों और साहित्य व कला की अद्भुत दुनिया से नया-नया

* ए (बी एवं सी)-3160, वसंत कुंज, नई दिल्ली-110070

परिचय होता है। इसी उम्र में फारुख ने नोट किया कि मात्र अपने मजहब से अधिक जुड़े मुस्लिम लड़के ही इन सबसे जुड़ी बहसों, कार्यक्रमों से बिल्कुल दूर रहते थे। उन लड़कों के पास अपनी बनी-बनाई दुनिया और इतिहास की समझ थी, जिसे मात्र कुरान से मान्यता मिली हुई थी। उस उम्र में भी फारुख के मन में यह प्रश्न उठा था कि यदि ये लोग दुनिया से नहीं जुड़ेंगे तो दुनिया उन्हें कैसे अपने से जोड़ेगी?

बीस वर्ष की अवस्था में, सन् 1964 में ही फारुख ब्रिटेन आ गए। यह वही समय था जब वहाँ मुसलमानों का आब्रजन शुरू हुआ था। अधिकांश मुसलमान भारत और पाकिस्तान से ही गए थे। वह मुसलमान अपनी गरीबी की स्थिति से छुटकारे और भौतिक संपन्नता की आशा में ही वहाँ जा रहे थे। वे यह मानकर चल रहे थे कि ब्रिटेन की उदार सभ्यता उन्हें अपनी मजहबी, सांस्कृतिक आजादी के साथ वहाँ आजीविका का अधिकार देगी। पहले उन्होंने सोचा था कि कुछ दिन रहकर, थोड़े पैसे कमाकर वे वापस अपने देश चले आएंगे। उन्होंने मिलों के पास मस्जिद, हलाल मांस की दुकान और तंग गलियों वाली अपनी अलग दुनिया बनाकर जीवन चलाया। मगर वहाँ से उनके वापस आने का दिन कभी नहीं आया। अब उनके बाल-बच्चे लंदन, यॉर्कशायर, मैनचेस्टर और बर्मिंघम में जन्मे, पले-बढ़े युवा हो चुके हैं।

इस बीच यूरोप में समय बदला। अर्थ-व्यवस्था के रूप और तंत्र बदले। मिल और फैक्ट्रियों वाला वह समय पीछे छूट गया। कई दिशाओं में तेज विकास हुआ तो आबादी के कई हिस्सों की आर्थिक जिंदगी में ठहराव भी आया। मिल और मस्जिद वाले उन मुसलमानी इलाकों में भी इसका असर हुआ जहाँ भविष्य के लिए कोई नई कल्पना या आशा नहीं दिख रही थी। तब नारेबाजी पर जिन्दा रहने वाले वामपंथियों ने जोर-जोर से माँग करनी शुरू की कि ब्रिटेन में मल्टी-कल्टी (मल्टी-कल्चरलिज्म, बहु-संस्कृतिवाद) को मान्यता दी जानी चाहिए। यह ठीक भारत के 'सेक्यूलरिज्म' जैसी ही माँग थी, जिसका व्यावहारिक अर्थ वास्तव में यह होता है कि चाहे मुसलमान बंधु दूसरे समुदायों से जुड़ें या नहीं, दूसरे उन्हें सदैव कुछ अतिरिक्त, कुछ विशेष सुविधा देते रहें। तो इस मल्टी-कल्टी के नाम पर ब्रिटिश स्कूलों में इस्लामी रिवाजों, आदेशों, विचारों को पाठ्य-क्रम और शिक्षण में स्थान देने की माँग की गई। जैसे यह कि लड़कों और लड़कियों को अलग-अलग पढ़ाया जाए, कि लड़कियाँ अपना सिर और पैर भी ढँके रहें, कि स्कूलों में हलाल मांस का ही भोजन दिया जाए, कि वहाँ अरबी भाषा और कुरान भी पढ़ाया जाए, कि स्कूल में नमाज अदा करने की जगह बनाई जाए, कि इतिहास की पढ़ाई में ब्रिटेन को एक शोषणकारी, बदमाश सभ्यता के रूप में चित्रित किया जाए, आदि। इनमें से कई माँगें कई जगह पूरी भी करवाई गईं। जो प्रधानाध्यापक यह माँगें मानने से इंकार करते, उन्हें नस्लवादी (रेसिस्ट) कहकर लांछित किया गया। ठीक वैसे ही जैसे भारत में अनुचित बातों या माँगों पर आपत्ति करने वाले को हिन्दू-सांप्रदायिक कहकर लांछित किया जाता है।

फिर आया सन् 1989 जो मल्टी-कल्टी वाले ब्रिटेन के लिए एक मील का पत्थर और अत्यंत शिक्षाप्रद साबित हुआ। इस वर्ष सलमान रुश्दी की किताब *द सैटैनिक्स वर्सेस* पर उठे विवाद ने ब्रिटिश मल्टी-कल्टी के भ्रम को चूर-चूर करके रख दिया। ईरान के तानाशाह अयातुल्ला खुमैनी के फतवे पर उठ खड़े होकर ब्रिटिश मुसलमानों ने अपने ही देश के लेखक रुश्दी को पकड़कर मार डालने का जोरदार समर्थन किया। ब्रिटेन की हर मस्जिद से रुश्दी को अपशब्द कहे गए और वहाँ बाहर खड़ी मुस्लिम भीड़ ने उसे दोहराया। वह भीड़ जिसने पहली बार कोई किताब उठाई थी, तो सिर्फ उसे जलाने के लिए! ब्रिटेन के किसी एक भी मौलाना ने, अपवादस्वरूप भी, मनुष्य की अभिव्यक्ति स्वतंत्रता, लोकतंत्र या रचनात्मकता के सिद्धांत का समर्थन नहीं किया। किसी ब्रिटिश मुल्ला ने नहीं कहा कि खुमैनी का फतवा गलत है या इस्लाम के विरुद्ध है। यद्यपि ब्रिटेन के उदारवादी मुस्लिम लेखक या टिप्पणीकार मौत के फतवे के समर्थक नहीं थे, किन्तु कोई भी रुश्दी की किताब के बचाव में सामने नहीं आया (ये वही टिप्पणीकार थे जिन्हें ब्रिटिश प्रेस सदैव खूब तवज्जो और स्थान देता है)। ब्रैडफर्ड में रुश्दी की किताब जलाने के लिए एक बड़ी रैली हुई जिसके आयोजक कलीम सिद्दीकी ने बाद में मीडिया के सामने स्वीकार किया कि उसे और उसके आयोजन को ईरान सरकार से आर्थिक मदद मिली थी। इसी सिद्दीकी ने बाद में मुस्लिम पार्लियामेंट ऑफ ब्रिटेन नामक संस्था बनाई और ब्रिटेन के मुसलमानों के लिए अलग कानून व नियम बनाने की घोषणा की।

रुश्दी वाला फतवा जारी होने के पहले ही सप्ताह किसी टी.वी. परिचर्चा में फारुख ढोंडी को भी बुलाया गया था। परिचर्चा में शामिल सभी मुस्लिम भागीदार रुश्दी की किताब के विरुद्ध थे। उसमें भाग लेने वालों में उपर्युक्त कलीम सिद्दीकी और इस्लाम में धर्मांतरित हुए पॉप-गायक यूसुफ खान भी थे। उस समय फारुख साहब ब्रिटेन के चैनल 4 के लिए टेलीविजन फिल्म बनाने में चयन संपादक का काम भी करते थे। तो उस परिचर्चा के संचालक ने फारुख से एक प्रश्न यह पूछा कि क्या वे *द सैटैनिक्स वर्सेस* पर फिल्म बनाने पर विचार करेंगे? फारुख ने सहजता से उत्तर दिया कि इस सम्बन्ध में वे केवल इतना ही देखेंगे कि कहानी और स्क्रिप्ट में सिनेमा बनाए जाने की अपेक्षाएँ पूरी होती हैं या नहीं। इसके अलावा वे निर्णय करने में किसी और बात का ध्यान नहीं रखेंगे। यह सुनकर परिचर्चा में ही कलीम सिद्दीकी और यूसुफ खान गुर्राए और वहीं टी.वी. परिचर्चा में ही खुली धमकी दे डाली कि रुश्दी पर मौत का फतवा उन सब पर लागू होता है जो उसकी किताब की किसी भी रूप में अनुशंसा करते हैं।

इस परिचर्चा की रिकॉर्डिंग मैनचेस्टर में हो रही थी, जिसमें भाग लेने के लिए लंदन से फारुख ढोंडी और दूसरे लोग आए थे। सभी भागीदार एक ही होटल में ठहरे हुए थे। परिचर्चा की रिकॉर्डिंग खत्म होने पर कार्यक्रम के प्रोड्यूसर ने फारुख को अलग ले जाकर एहतियातन पूछा कि क्या वे अपना होटल बदलना चाहेंगे, क्योंकि वे धमकी देने वाले भागीदार भी वहीं ठहरे हुए हैं?

इस प्रकार, रुश्दी प्रसंग ने ब्रिटिश मल्टी-कल्टी की पूरी कलाई खोलकर रख दी कि वह भी भारतीय सेक्यूलरिज्म की तरह बिलकुल एकतरफा मामला और राजनीतिक ढोंग, निरा अज्ञान या वैचारिक चालबाजी है। यह नितांत स्पष्ट दिखा कि ब्रिटिश समाज चाहे कितनी ही उदारता दिखाए, चाहे मुसलमानों की संवेदना का आदर करने के लिए अपने कितने ही विचारों, आस्थाओं, नियमों आदि को परे या संशोधित कर देकिन्तु मुस्लिम समाज उसकी किसी संवेदना को कौड़ी का तीन भी नहीं समझेगा। वह अपने किसी भी विचार, व्यवहार को दूसरों का (अपने उपकारियों का भी) ध्यान रखते हुए संशोधित नहीं करेगा। जिस यूरोपीय समाज ने बाहर से आए मुसलमानों को आश्रय और काम दिया, अपेक्षाकृत अधिक सुख-सुविधा की जिंदगी दी, उसकी संकीर्ण माँगों और विचित्र जिदें भी मानीं। परन्तु बदले में वही मुस्लिम समुदाय उस समाज के किसी मूल सिद्धान्त को भी आदर देने से इंकार करता है। वह भी ऐसा सिद्धान्तअभिव्यक्ति स्वतंत्रताजिसका वह स्वयं भरपूर उपयोग व दुरुपयोग करता रहा है! आखिर आग्रजक मुसलमानों को ब्रिटेन में ही रहकर ब्रिटिश समाज और शासन की मनमानी आलोचना करने का अधिकार किसने दिया था? उसी सिद्धान्त ने जिसे ब्रिटिश समाज मान्यता देता है। किन्तु इसी सिद्धान्त को मुसलमान अपने विरुद्ध आलोचना के दूसरों के अधिकार के रूप में स्वीकार करने के लिए तैयार न थे। अतः 1989 में ही यह पूरी तरह साफ हो गया कि मुसलमान दूसरों की हर आस्था, हर सिद्धान्त की आलोचना करेंगे, किन्तु दूसरे उनकी आलोचना नहीं कर सकतेब्रिटिश मल्टी-कल्टी के व्यवहार में यही अर्थ था यही भारतीय सेक्यूलरिज्म का भी अर्थ है।

रुश्दी वाले फतवे से पहले ब्रिटेन में मल्टी-कल्टी वाले प्रचार-धंधे में लगे वामपंथी लेखक-पत्रकार-राजनीतिकर्मी सबको यही समझाते थे कि एशिया से आकर बसा हुआ मुस्लिम समुदाय ब्रिटेन का वैसा ही अंग है जितना कोई और। उसे थोड़ी सी छूट देने, उसके खान-पान, रीति-रिवाज को ब्रिटिश खान-पान, रीतियों का ही हिस्सा मान लेने से ब्रिटिश संस्कृति समृद्ध ही होगी (इस बिंदु पर भी भारत में गंगा-जमुनी तहजीब की लफ्फाजी तुलनीय है), और यह सब करने से मुसलमान ब्रिटेन की राष्ट्रीय धारा में अपने को स्वाभाविक, सहज समझेगे। रुश्दी वाले फतवे पर अयातुल्ला खुमैनी के साथ ब्रिटिश मुसलमानों की पूरी एकजुटता के बाद यह भ्रम दूर हो जाना चाहिए था। साफ-साफ समझ लिया जाना चाहिए था कि दूसरों से घुलने-मिलने, तथा बराबरी के आधार पर साथ-साथ जीने के मामले में मुसलमान इस्लाम की बाधा पार नहीं कर सकते, कि वे सदैव अपने लिए जैसे विशेषाधिकार रखना चाहते हैं जो वे दूसरों को देने के लिए तैयार नहीं।

द सैटैनिक वर्सेस प्रसंग ने दिखाया कि दशकों ब्रिटेन में रहने, वहाँ की भाषा, बोली अपनाकर भी मुसलमान अपने को सबसे पहले मुसलमान ही मानते हैं, सामान्य मनुष्य

या ब्रिटिश नहीं। वे इस्लामी (अंध) विश्वासों के समक्ष उस मानवीय भावना या ब्रिटिश संस्कृति का कोई सम्मान नहीं करते जिसने उन्हें वहाँ आकर बसने, अपने विश्वास व तरीकों के अनुसार जीवन जीने की अनुमति और सुविधा दी। जिसने उन्हें मस्जिदें बनाने की जगह ही नहीं दी, बल्कि ब्रिटिश शासक प्रिंस ऑफ वेल्स स्वयं मस्जिद में आकर अपने को उसका संरक्षक तक बताते रहे। इस तरह की उदारता अरबी मुस्लिम देशों में दूसरे धर्मावलंबियों के लिए अकल्पनीय है। सऊदी अरब में कोई मन्दिर और गिरजा बनाना तो दूर, एक सलीब चिह्न, एक हनुमान जी की मूर्ति, एक बाइबिल या भगवद्गीता की प्रति तक नहीं ले जा सकता। वहाँ रहने वाले हिन्दुओं के लिए दुर्गापूजा या जन्माष्टमी मनाना तो नितांत अकल्पनीय है। जबकि वहाँ लाखों की संख्या में हिन्दू कामगार और इंजीनियर रहते हैं। इस प्रकार, एक ईसाई देशब्रिटेनमें अपने मजहबी विश्वासों के साथ, वहाँ के नागरिक के रूप में पूरी स्वतंत्रता के साथ रहने की सुविधा पाकर भी मुसलमानों ने अपने को मुख्यतः ब्रिटिश नहीं, बल्कि मुसलमान माना जिनकी श्रद्धा दूसरे देश और दूसरे समय के विश्वासों व अंधविश्वासों से जुड़ी है। जो दूसरे देश के इस्लामी शासक के आह्वान पर अपने देश के विरुद्ध खड़े हो जा सकते हैं। लेकिन ब्रिटिश समाज ने उस प्रसंग से आवश्यक शिक्षा नहीं ली।

बीसवीं सदी के नवें दशक में ब्रिटेन में उग्रवादी इस्लाम ने एक विशिष्ट राजनीतिक शक्ति के रूप में आकार लेना आरम्भ किया। इससे पहले वहाँ बसे मुसलमान ब्रिटिश पोशाक, फैशन आदि की कोई परवाह नहीं करते थे। जबकि मुसलमानों की नई पीढ़ी डिजाइनर जैकेट, जूते, चश्मे ही पहनकर बड़ी हुई। लम्बे समय तक ब्रिटेन के अखबारी लेखों और बौद्धिक बहसों में यह वामपंथी कुतर्क चलता रहा कि बेचारी नई मुस्लिम पीढ़ी दो संस्कृतियों के अन्तर्विरोध के बीच फँस गई है। मुस्लिम युवाओं के एक वर्ग ने इसका समाधान उग्रवादी इस्लाम की विचारधारा में ढूँढ़ा। कॉलेजों में कई मुस्लिम लड़के वह पोशाकें पहनने लगे जो वे इस्लाम निर्दिष्ट समझते थे। उनकी बोली, व्यवहार, मैत्री-सम्बन्ध सब कुछ इस्लाम से निर्देशित होने लगे। पश्चिमी राजनीतिक दर्शन, नागरिक अधिकार, लोकतन्त्र, खुलापन आदि कई चीजों को वे अनैतिक बताने लगे। वे इस्लाम छोड़ने वालों का सिर कलम कर देने और व्यभिचार के लिए पत्थर मार-मारकर मार डालने की वकालत करने लगे और इसका खूब प्रचार भी करने लगे। जिस समाज ने उन्हें इस तरह की उग्र अभिव्यक्ति की भी स्वतन्त्रता दी थी, वे उसी समाज की जड़ में मट्टा डालने का हर यत्न करने लगे।

यह ठीक है कि ब्रिटेन में ही जन्मी, पली-बढ़ी इस नई मुस्लिम पीढ़ी का लालन-पालन उनके माता-पिताओं ने इस्लामी रीति से ही किया था, पर वे माता-पिता स्वयं कोई कट्टरपंथी नहीं थे। अतः प्रश्न उठता है कि ऐसे कट्टरपंथी और हिंसा, आतंक समर्थक विचार इस नई पीढ़ी में कहाँ से आए ?

वस्तुतः उसी नवें दशक में इस्लामी देशों से प्रशिक्षित और प्रेरित कई मुल्ला-मौलाना ब्रिटेन आकर अपना अड्डा जमाने लगे। यह नए किस्म का इस्लामी नेतृत्व था

जिसकी संपूर्ण प्रेरणा बाहरी थी। ब्रिटेन में अपना कारोबार फैलाने में उन्होंने वहाँ के आब्रजान कानून का भारी दुरुयोग किया जो मजहबी कार्य से जुड़े व्यक्तियों को वहाँ असीमित अवधि तक रहने की अनुमति देता था। ब्रिटेन में मस्जिदें, मदरसे बनाने और इस्लामी प्रचार करने के लिए ईरान और सऊदी अरब से ढेरों पैसा आने लगा। इन्हीं संस्थानों के माध्यम से मध्ययुगीन इस्लामी आदेशों की कट्टरपंथी शिक्षा दी जाने लगी। जिन बच्चों ने बचपन में इस्लामी रिवाजों में पलकर अपने को दूसरों से निश्चित रूप से कुछ अलग पाया ही था, वे उन्हीं रिवाजों, विचारों के और कट्टर अनुपालन के आह्वानों को गलत कैसे समझते! ये नए मुल्ला-मौलवी पूरी दृढ़ता के साथ संपूर्ण कायनात की सरल व्याख्या देकर, पूरी दुनिया पर जीत हासिल करने वाली विचारधारा और संगठन की सदस्यता का प्रलोभन देने लगे। ब्रिटेन में अपने विपैले भाषणों के लिए कुख्यात उमर बखरी मुहम्मद के अनुसार हमारे लिए इस्लाम एक राजनीतिक विश्वास है, एक सम्पूर्ण व्यवस्था। यह कोई मजहब मात्र नहीं, बल्कि एक विचारधारा है। यह बखरी अपने देश सीरिया से निकाले जाने के बाद लंदन में उग्रवादी मुस्लिम संगठन *अल मुहाजिरों* का नेता बनकर जम गया। उसे सऊदी अरब से इस्लामी मिशनरी संगठनों से वित्तीय सहायता मिलती रही है। यह संगठन खुली घोषणा करता है कि एक दिन ब्रिटेन पर इस्लाम का झंडा लहराएगा।

इस सम्पूर्ण परिदृश्य के दुष्प्रभाव का दूर से अनुमान करना आसान नहीं है। आपको लम्बे समय तक नजदीक से उसका अवलोकन करना होगा, तभी आप पूरे मामले को सचमुच समझ सकते हैं। फारुख ढोंडी ने पिछले तैतालीस वर्ष से ब्रिटेन के हालात को विकसित होते या बिगड़ते स्वयं देखा है। वे कहते हैं कि यदि आप दिन में पाँच बार किसी सर्व-शक्तिमान और अबूझ सत्ता के सामने सिर झुकाते हैं, यदि आपको निरन्तर कहा जाता है कि आप तो शैतानों की दुनिया में रह रहे हैं, यदि आपके आस-पास भारी अज्ञानी लोग भरे हुए हैं, जो साहित्य, कला, बौद्धिक विचार-विमर्श और मानव सभ्यता की मूल्यवान परम्पराओं से एकदम कोरे हैं, तो आपका दिमाग सनकी विचारों, भयंकर योजनाओं को स्वीकार करने के लिए तैयार हो जा सकता है। तब वस्तुतः आपका दिमाग बिगड़ जाता है।

बल्कि तब आप बिना अधिक कठिनाई के दूसरों के औजार बन जा सकते हैं जो आपको जहाँ-तहाँ फिदायीन मिशनों पर भेज देंगे। 1998 में यमन की पुलिस ने यमन में ब्रिटिश ठिकानों को बम से उड़ा देने की योजना और उपकरणों से लैस आठ लड़कों को गिरफ्तार किया। उनके निशाने थे यमन स्थित ब्रिटिश कार्यालय, चर्च, कूटनीतिज्ञ, नागरिक और उनके घर। उन गिरफ्तार लड़कों में छह मुस्लिम लड़कों के पास ब्रिटिश पासपोर्ट थे। यह सभी पाकिस्तानी मूल के ब्रिटिश नागरिक थे। तीन मिडलैंड के रहने वाले, दो उत्तरी ब्रिटेन से और एक लंदन का। यह लंदन वाला फिंसबरी पार्क मस्जिद के मुल्ला अबू हमजा का सौतेला बेटा था। यमन की अदालत ने उन सब पर मुकदमा चलाया और आतंकवाद के षड्यंत्र के अपराध में सजा सुनाई।

ध्यान रहे कि यमन एक मुस्लिम देश ही है।

उन लड़कों की कहानियाँ सुनने लायक थीं। उन्होंने बताया कि वे यमन में अरबी भाषा सीखने आए थे। जो वही बात हुई कि कोई कहे कि वह अंग्रेजी सीखने के लिए पाकिस्तान गया था मगर यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि ब्रिटिश सरकार ने उन लड़कों के मामले में क्या किया? लंदन से विदेश मंत्रालय ने अपने यमन स्थित कूटनीतिक अधिकारियों को निर्देश दिया कि वे उन लड़कों यानी ब्रिटिश नागरिकों की हर सम्भव मदद करें! अब अनुमान ही किया जा सकता है कि उन बेचारे कूटनीतिकों ने लड़कों से क्या बात की होगी। शायद कुछ इस तरह “अरे, भाइयो, तुम हमें मारने तो नहीं आए थे न? चलो, कोई बात नहीं, चिन्ता मत करो। हम कोशिश करते हैं कि तुम जल्द-से-जल्द आराम से अपने घर पहुँच जाओ। ठीक है न ?” इधर लंदन में उन लड़कों के परिवार वाले, उनके वकील, आदि ब्रिटिश सरकार से अपने प्रभाव का प्रयोग कर उन्हें छुड़ाने की अपीलें कर रहे थे। और ब्रिटिश सरकार ने यही किया भी!

तब उस समय पत्रकारों ने खोज-बीन की कि ये लड़के, जो ब्रिटेन में जन्मे, पले-बढ़े, स्कूल गए। आखिर इन्होंने कहाँ से इतनी घृणा अर्जित कर ली कि यमन में आतंकवादी अड्डों में प्रशिक्षण लेने चले गए और फिर ब्रिटिश कूटनीतिकों और उनके परिवारों को उड़ाने के मिशन में भी शामिल हो गए? पता चला कि उस पूरे मिशन का सूत्र उत्तरी लंदन के फिंसबरी पार्क मस्जिद और उसके एक आँख वाले कुख्यात मुल्ला अबू हमजा से जुड़ा हुआ था। उसके दाहिने हाथ के स्थान पर कैप्टेन कुक जैसा एक स्टील का नुकीला हुक लगा है। फारुख ढोंडी ने उससे पूछा कि उसका हाथ कैसे गया, तो उसने कहा कि “मैंने हाथ खोया नहीं। मैंने तो उल्टे उसे पा लिया है।” जोर देने पर उसने बताया कि अफगानिस्तान में मुजाहिद के रूप में लड़ते हुए उसका हाथ बम से उड़ गया था। उसने गर्व से फारुख साहब को बताया कि उसने अनेक लड़कों को ट्रेनिंग कैंपों में भेजा है। हमजा का मानना था कि मुसलमानों का कर्तव्य है कि पूरी दुनिया को इस्लामी बनाने के लिए लड़ें। यमन में पकड़े गए वे लड़के उस विश्व-व्यापी जिहाद के ही अंग थे। हमजा को इस पर गर्व था कि उसका सौतेला बेटा भी यमन वाली कार्रवाई में शामिल था। उसने कहा कि यदि वे लड़के यमन की सरकार अस्थिर करने के मिशन पर गए भी थे तो वह उनकी कार्रवाई की भर्त्सना नहीं करेगा। फारुख ने उससे कहा कि यमन तो एक मुस्लिम देश है, और इन ब्रिटिश मुस्लिम लड़कों पर यमन के इस्लामी कानून के तहत ही मुकदमे चलाए गए। इस पर हमजा का उत्तर था कि जो भी मुस्लिम देश मध्यपूर्व में पश्चिमी देशों के हितों पर हमले का समर्थन नहीं करता, वह पर्याप्त इस्लामी नहीं है।

बाद में अफगानिस्तान में भी ब्रिटिश मुस्लिम लड़के पकड़े गए। वे तालिबान की तरफ से वहाँ लड़ने गए थे। वस्तुतः *अल कायदा और तालिबान को अपने लिए सबसे ज्यादा आदमी किसी भी यूरोपीय देश के मुकाबले ब्रिटिश मुसलमानों में मिले।*

अफगानिस्तान में लगभग बारह सौ ब्रिटिश मुस्लिमों की लिस्ट मिली जिन्होंने अल कायदा के साथ प्रशिक्षण लिया था। लेकिन अफगानिस्तान वाले मामले में भी यमन वाली घटना जैसा ही रुख फिर दुहराया गया। ब्रिटिश उप-प्रधान मंत्री जॉन प्रेसकॉट और अनेक लेबर पार्टी सांसदों ने अफगानिस्तान में पकड़े गए ब्रिटिश मुस्लिम लड़कों के प्रति नरमी की मुद्रा अपनाई। उन ब्रिटिश नेताओं को अपने-अपने क्षेत्र में चुनावों में मुस्लिम वोट चाहिए थे। इसीलिए ब्रिटिश गुप्तचर पुलिस को अफगानिस्तान भेजकर उन लड़कों के बारे में जरूरी छान-बीन करने की बजाय उल्टे वे उनकी पैरवी में लग पड़े।

फिर 2001 की गर्मियों में ब्रिटेन में मिल और मस्जिद वाले कई इलाकों में दंगे भड़के। ओल्डैम, ब्रेडफोर्ड और बर्नले जैसे शहर जल उठे। वहाँ नकाब ओढ़े 'एशियन' यानी मुस्लिम युवक अंधेरा होने के बाद सड़कों पर उतरकर गाड़ियों, दुकानों, रेस्त्राओं और बसों में आग लगाने लगे। छड़ और पत्थरों से लैस होकर उन्होंने स्थानीय 'रायट' पुलिस का भी मुकाबला किया। नस्ली सम्बन्धों के स्वयंभू मल्टी-कल्टी सिद्धान्तकार और अधिकारीगण किंकर्तव्यविमूढ़ हो गए। लेकिन एक बार फिर उन्होंने अपनी वही विचित्र टेक दुहराई। कहा कि यह 'एशियाई दंगे' (वे भी हमारे सेक्यूलरवादियों की तरह कुछ चीजों को सही संज्ञा देने से कतराते हैं) वास्तव में वर्षों से 'नस्ली सम्बन्धों की विफलता' के परिणाम थे, कि उसकी जड़ में गरीबी और बेरोजगारी से उत्पन्न आक्रोश ही था, कि उन दंगाइयों ने अफवाह सुनी थी ब्रिटिश नेशनल पार्टी के लोग उनके शहरों में घुसकर कब्जा करने वाले हैं, आदि आदि।

यह बिल्कुल उल्टी बात थी और सच्चाई से मुँह मोड़कर अपने को भुलावा देने जैसा तर्क था। वास्तव में ब्रिटिश समाज ने तथाकथित 'नस्ली सम्बन्ध' के बारे में बरसों से फ्लोरेंस नाइटिंगेल जैसा व्यवहार किया था। अर्थात् निःस्वार्थ, समर्पित किन्तु भोलेपन भरे रवैये से काम किया था। वह हर कथित घाव पर मरहम लगाता रहा, उसे भरने की कोशिश करता रहा, मरीज और उनके हमदर्दों की हर चित्र-विचित्र माँगों को सहानुभूति से पूरा करने का यत्न करता रहा जैसा कि यमन में पकड़े गए लड़कों के मामले में स्पष्टतः देखा गया। पर यह करते हुए भोलापन यह था कि असल बीमारी पर, और उसके बिगड़ते, खतरनाक होते लक्षणों पर उसकी नजर ही नहीं जाती थी। ब्रिटिश अखबार गड़बड़ी करने वालों को सदैव 'एशियन युवक' कहते थे, जबकि उन दंगाइयों में एक भी हिन्दू, सिख या बौद्ध नहीं होता था। सबके सब मुस्लिम थे जिनके माता-पिता पाकिस्तान, मीरपुर या बंगलादेश से आए थे। नस्ली सम्बन्ध की लपफाजी करने वाले अखबारों, लेखकों ने कभी यह नहीं कहा कि मुस्लिम युवकों को ब्रिटिश समाज में मिल-जुल कर रहने और खपने में उनकी विचित्र इस्लामी संस्कृति ही मुख्य बाधा पैदा करती है। यही बाधा उन्हें सब से विलग रखती है, पिछड़ा बनाती है और

इस्लामी उग्रवादियों की फसल के लिए जमीन तैयार करती है।

लेकिन मल्टी-कल्टी की लपफाजी करने वाले पंडितों ने यह नहीं देखा कि बात-बात में पत्थर चलाने वाली प्रवृत्ति और नकाब की शैली टेलीविजन पर देखे उन अरब युवकों की नकल है जो फिलीस्तीन में सड़क पर इजराइली पुलिस के साथ लड़ते हैं। उन्होंने यह भी नहीं देखना चाहा कि ब्रिटिश शहरों में दंगे करने वाले युवकों में भूमिगत से रहने वाले उग्रवादी इस्लामी संगठनों के सदस्य भी मौजूद थे। वहाँ यह संगठन बाहर से किसी मस्जिद या कॉलेज सोसाइटी से जुड़कर सक्रिय रहे हैं। उन्होंने इस पर भी ध्यान नहीं दिया कि इन दंगों के पीछे फिंसबरी पार्क मस्जिद के अबू हमजा जैसे लोगों के उग्र आह्वान भी जुड़े थे।

फारुख कहते हैं कि उन शहरों के लड़कों से बात करते हुए उन्हें दंगों के पहले ही अनिष्ट की आशंका हो चली थी। ओल्डैम में मुस्लिम लड़के उग्रवादी किस्म की पोशाक पहनने लगे थेटोपी, दाढ़ी, सफेद सलवार कमीज। वे कहते थे कि पश्चिमी सभ्यता एकदम मिटा देने लायक है। ऐसा कहने वालों से फारुख ने पूछा, "तो तुम कहाँ से शुरू करोगे ? अपने ही शहर से?" उन लड़कों के प्रवक्ता ने मुस्कुराकर कहा, "हर जगह से।"

फारुख उन दंगों का रंग-ढंग देखकर इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि उनका कोई निश्चित निशाना नहीं था। न रणनीतिक, न सांकेतिक। दंगाई किसी बेरोजगारी के खिलाफ गुस्सा नहीं उतार रहे थे। उनका विध्वंस मात्र विध्वंस और दंभ-प्रदर्शन था, कि देखो हम क्या कर सकते हैं! दंगाई मानो आपस में बढ़-चढ़कर प्रतियोगिता कर रहे थे। मल्टी-कल्टी वाले प्रचारकों के दावे अनर्गल थे कि 'एशियन' दंगाई अपने विरुद्ध 'नस्लवादी' दुर्व्यवहार या पक्षपात के खिलाफ प्रतिवाद कर रहे थे। (फारुख के अनुसार मल्टी-कल्टी धंधेबाजों को अपने हित में 'नस्लवाद' चाहिए। वह न हो तो वे उसे ढूँढते फिरेंगे। ठीक उसी तरह, जैसे भारत में सेक्यूलरवादियों को 'साम्प्रदायिक' अन-बन चाहिए।) ऐसे प्रचारक इस बात को किनारे करके भयंकर भूल कर रहे थे कि ब्रिटिश मुस्लिमों का एक वर्ग संपूर्ण पश्चिमी सभ्यता को ही सड़ा हुआ और अनैतिक मानता है।

न्यूयॉर्क और पेंटागन पर 11 सितम्बर के आतंकी हमले के बाद अबू हमजा और बखरी मुहम्मद फिर से ब्रिटिश समाचारों में उभर आए। हमले का समर्थन करते हुए उन्होंने खुलेआम कहा कि मुसलमानों के लिए जिहाद के उद्देश्य के समक्ष किसी मानवीय संवेदना या कानूनों का कोई महत्त्व नहीं है। उनके लिए केवल अल्लाह के आदेश और इस्लामी किताब के दिए कानून ही अर्थ रखते हैं, जिनकी व्याख्या करने का अधिकार भी उन्हीं को, यानी हमजा और बखरी जैसे इस्लामी नेताओं को ही है। दूसरी तरफ ब्रिटेन के वैसे मुस्लिम नेता जो सरकार के साथ मिलते-जुलते रहते हैं, और

नियमित रूप से सरकारी कार्यक्रमों में निमंत्रित किए जाते हैं, उन लोगों ने 11 सितंबर के हमले की निंदा की, प्रिंस ऑफ वेल्स इस्ट-एण्ड मस्जिद में नमाज में शामिल होने गए और मुसलमानों के साथ अपनी एकजुटता का प्रदर्शन किया। प्रधानमंत्री टोनी ब्लेयर मुस्लिम संगठनों के नेताओं के साथ टी.वी. पर आए। सबने आतंकी हमले की निंदा की और हमजा और बखरी को 'जोकर' बताया।

आतंकवाद की इन भर्त्सनाओं के बावजूद ब्रिटेन की मस्जिदों के बाहर जिहादी विचारों वाले युवकों ने भड़काऊ नारे लिखे डिब्बे, पोस्टर लगाए और हमले का समर्थन किया। मस्जिद में आने-जाने वाले मुसलमानों को उन्होंने अमेरिका के खिलाफ 'युद्ध में शामिल होने' का आह्वान किया। संसुक्त राज्य अमेरिका के संपूर्ण विनाश से कम उनकी कोई माँग न थी। रीजेंट स्ट्रीट स्थित लंदन की सबसे बड़ी मस्जिद के सामने मुस्लिम युवक पर्चे बाँटते जिसमें मुसलमानों से इस्लाम के विरुद्ध अमेरिकी युद्ध में भाग लेने का आह्वान किया जाता। ब्रिटेन सरकार से माँग की जाती कि वह इस अमेरिकी युद्ध में उसका साथ न दे। इन सबके बीच पास में वर्दीधारी लंदन की पुलिस चुपचाप खड़ी यह देखती कि उन मुस्लिम युवकों की अभिव्यक्ति स्वतंत्रता को कोई बाधा न हो।

वस्तुतः यमन और अफगानिस्तान जैसी घटनाओं से ब्रिटेन को सतर्क हो जाना चाहिए था कि नस्ली सम्बन्ध और मल्टी-कल्टी के सिद्धान्तों से उस उग्रवादी इस्लामी परिदृश्य को नहीं समझा जा सकता जो कुछ समय से ब्रिटेन में विकसित हो रही थी। मगर यह नहीं हुआ। ब्रिटेन में उदारवादियों, वामपंथियों, और 'नस्ली सम्बन्ध' के सिद्धान्तकारों ने जोर-जोर से कहा कि वे लड़के यमन में वैसा कुछ करने गए ही नहीं थे, कि ब्रिटेन को मुस्लिम लड़कों के 'अलगाव' को समझने और उसे दूर करने के लिए यह और वह करना चाहिए। जबकि वास्तविक उपाय केवल यह है कि यूरोपीय देशों को कठोरता से अपने यहाँ इस्लामी उग्रवादियों की जड़ को काटना पड़ेगा। उनके पास कोई और चारा नहीं है। मिस्र, यमन, अल्जीरिया, पाकिस्तान जैसे मुस्लिम देश तो अभी चाहकर भी अपने यहाँ आतंकवादियों के मूल को नष्ट नहीं कर सकते। किन्तु यूरोपीय देश ऐसा कर सकते हैं, और उन्हें वही करना पड़ेगा। कोई अपने घर में उसी के ऊपर घात लगाए हत्यारों को बने रहने नहीं दे सकता। ब्रिटेन ने अबू हमजा और बखरी मुहम्मद जैसे घातक अतिथियों को लम्बे समय तक बने रहने देकर सबसे बड़ी भूल की है। सात वर्ष बाद अब जाकर उसकी नींद खुलनी शुरू हुई जब जुलाई 2005 में उस पर खुला आतंकवादी हमला हुआ। उसके बाद से भी कई आतंकवादी षड्यंत्र होने से पहले पकड़े गए हैं। ब्रिटेन को अब जाकर कुछ-कुछ समझ आ रहा है कि जिस लोकतांत्रिक व्यवस्था की उदारतावश उसने हमजा, बखरी, अल मुहाजिरों जैसे अतिथियों को अपने यहाँ रहने दिया, उसी सामाजिक-राजनीतिक व्यवस्था के विरुद्ध इन

अतिथियों ने विषैला प्रचार चलाकर ब्रिटेन में विश्वासघाती पंचमॉगियों का दस्ता तैयार कर दिया। इसे समूल नष्ट करना ब्रिटेन की रक्षा के लिए आवश्यक है।

यह सच है कि कई मुस्लिम देशों ने आतंकवाद के विरुद्ध अमेरिकी अभियान के समर्थन की मुद्रा अपनाई। जबकि उनमें से कुछ स्वयं आतंकवादियों के सरपरस्त रहे हैं। फिर भी आतंकवाद के विरुद्ध उनके खड़े होने के विभिन्न कारण हैं। कुछ अमेरिकी कोप से बचना चाहते हैं, तो किसी के यहाँ आतंकवादी स्वयं उन्हीं के सिरदर्द बन रहे हैं। पाकिस्तान में भी यह देखा जा रहा है। किन्तु इन सबके बावजूद जब कहा जाता है कि न्यूयॉर्क, मैड्रिड या लंदन पर की गई आतंकवादी कार्रवाइयाँ इस्लाम के सिद्धान्तों के विरुद्ध हैं तो इसे अधिकांश मुसलमान गंभीरता से नहीं लेते। क्योंकि उन्हींने इस्लामी विद्वानों, नेताओं द्वारा उग्रवादियों को चुनौती दिया जाना कभी नहीं देखा-सुना। उन्हींने सलमान रुश्दी, तसलीमा नसरीन या इशरद माँझी के विरुद्ध तो फतवे सुने हैं, किन्तु कभी ओसामा बिन लादेन या मसूद अजहर के विरुद्ध एक भी फतवा नहीं सुना। तब कौन मुसलमान अल-कायदा या लश्करे-तोयबा या हिजबुल मुजाहिदीन की घोषणाओं को गैर-इस्लामी मानेगा।

वास्तविकता बड़ी जटिल और बड़ी कड़वी है। यह सच है कि चौदह सौ वर्षों के इस्लामी इतिहास में उदार शासक, विद्वान और संत भी हुए हैं। लेकिन वही लोग असली इस्लामी थे, यह कोई इस्लामी विद्वान नहीं कहता। अधिक सच यह है कि जैसे लोग इस्लामी परंपरा के बावजूद हुए। भारत में उन्नीसवीं शती के मध्य में मुगल दरबार में जिस सूफी मत का प्रभाव था, वह मूल इस्लामी विचारों के विरुद्ध अधिक था, क्योंकि उस मत का समर्थन इस्लामी परम्परा करती ही नहीं थी। इसीलिए जब भी कोई बहाव, कोई वलीउल्लाह, कोई बरेलवी, कोई इकबाल, कोई जिन्ना, कोई खुमैनी, कोई बिन लादेन, कोई तालिबान अपने हिंसात्मक आह्वानों को डटकर रखता है तो उसे इस्लाम के विरुद्ध बताने का कोई ठोस आधार ही नहीं मिलता। न उसे गैर-इस्लामी कहे जाने को कोई गंभीरता से लेता है। छह वर्ष पहले तालिबान ने बामियान की ऐतिहासिक बुद्ध मूर्तियों को नष्ट कर दिया। कोई मुसलमान इस विध्वंस को गैर-इस्लामी नहीं कह सका, क्योंकि स्वयं इस्लाम के संस्थापक ने यही सब किया था और यही करते रहने का स्थायी आदेश भी दिया था। तब यदि कोई महत्वाकांक्षी इस्लामी संगठन पूरे विश्व को मूर्तियों, मूर्तिपूजकों और काफिरों से खाली करने का लक्ष्य रखकर विध्वंस करे तो उसे गैर-इस्लामी कहने का कोई विश्वसनीय आधार नहीं मिलता है।

अतः उस विचारधारा को चुनौती देना आवश्यक है जो हर उस चीज को अस्वीकार और नष्ट करने के लिए प्रेरित करती है जो गैर-इस्लामी है, और जो जहाँ-तहाँ विध्वंसकारियों को पूरी दुनिया को इस्लामी बनाने के लिए प्रेरित करती है। यह विचारधारा ही मध्ययुगीन किस्म के दंड प्रावधान चलाती है, इस्लामी पुलिस के

बल पर लोगों को नमाज आदि के लिए जाने पर मजबूर करती है, स्त्रियों को निरी सम्पत्ति की तरह देखती है, साहित्य-कला-संगीत-फिल्म आदि को सिरे से प्रतिबंधित करती है, और हजारों मदरसों में अबोध बच्चों के मस्तिष्क को हिंसक, घृणास्पद विचारों से भरकर नष्ट कर डालती है। उन्हीं मस्तिष्कों ने पिछले कुछ वर्षों में कम से कम दस हजार लोगों की हत्याएँ की हैं।

विश्व में इस्लाम की ऐसी एकाधिकारी व्याख्याओं और अन्य विचारों का सहमेल नहीं रह सकता। इसी प्रकार अल-कायदा, लश्करे-तोयबा और ब्रिटिश संसद जैसी लोकतांत्रिक संस्थाओं का भी सह-अस्तित्व बहुत दिनों तक नहीं रह सकता। सलमान रुश्दी और ओसामा बिन लादेन जैसे व्यक्तित्वों का भी साथ-साथ बना रहना नामुमकिन है। इन दो प्रकारों में निर्णायक संघर्ष अवश्यंभावी है। यह संघर्ष सरकारों को गिराने, बदलने और निर्दोष लोगों या आतंकवादियों को मारने से खत्म नहीं होने वाला। अंततः यह स्वयं इस्लाम के अंदर सुधार या परिवर्तन में बदलेगा। इस्लामी आतंकवाद के इस दौर के आरम्भ से बहुत पहले ही श्री अरविंद ने कहा था कि मुस्लिमों को 'हानिरहित बनाने' का एकमात्र उपाय है उनमें अपने मजहबी सिद्धान्तों के प्रति कट्टर विश्वास को कम किया जाए।

चाहे यह बात इस्लामी विद्वानों को कितनी ही अप्रिय क्यों न लगे, उन्हें किसी न किसी रूप में इसे स्वीकार करना ही पड़ेगा। इस्लाम पूर्व इतिहास तथा गैर-इस्लामी संस्थाओं, विचारों आदि के बारे में इस्लामी मान्यताओं को किसी-न-किसी रूप में बदले बिना कोई अन्य उपाय नहीं है। यह भी कड़वी सच्चाई है कि दुनिया भर में असंख्य विचारशील मुसलमानों में सामान्य मनुष्य के रूप में किसी बिन्दु पर स्वतंत्रतापूर्वक सोचने-समझने, अच्छे-बुरे, उचित-अनुचित का निर्णय करने तथा उन्हीं बिन्दुओं पर इस्लामी मान्यताओं का ताल-मेल बिठा पाने में भारी अंतर्विरोध व अंतर्द्वंद्व को झेलना पड़ता है। उन्हें भी इस अंतर्द्वंद्व का निपटारा करना ही होगा। उनके बीच इशरद माँझी, वफा सुल्तान, तसलीमा नसरिन जैसी सुधारवादी आवाजें उठने भी लगी हैं जो इस द्वंद्व का सम्मानजनक हल सुझाती हैं। अच्छा हो कि दुनिया के मुस्लिम रहनुमा उन आवाजों को दबाने की बजाय उन पर गंभीरता से विचार करें।

इस बीच अमेरिका, ब्रिटेन और भारत जैसे देशों के नेताओं और बुद्धिजीवियों के लिए यही उचित होगा कि वे 'नस्ली-सम्बन्ध', मल्टी-कल्टी, 'सेक्यूलरिज्म' की अंधविश्वासी, पक्षपात-पूर्ण और भ्रामक लफ्फाजियों में अपनी बुद्धि व संसाधन और नष्ट न करें! इसके बदले निरपवाद रूप से प्रत्येक मनुष्य की स्वतंत्रता, समानता, खुले विचार-विमर्श और बिना किसी विशेषाधिकार के प्रत्येक धर्म-विश्वास व अभिव्यक्ति की समानता के मूल्यों को निस्संकोच रूप से स्थापित किया जाना चाहिए। इससे यदि किसी की संवेदना को चोट लगती हो, तो उससे हिचकने की प्रवृत्ति जितनी जल्दी छोड़ दी जाए मानवता का उतना ही भला होगा।

प्रा॥त औपदेशिक कथा-साहित्य*

साहित्यवाचस्पति श्रीरंजन सूरिदेव**

प्राकृत-वाङ्मय में प्राकृत कथाकारों द्वारा धर्मदेशना को ततोऽधिक मूल्य प्राप्त हुआ है। अतएव, कथा के लिए स्वीकृत वर्ण्य वस्तु में कथा के समानान्तर संयम, शील, दान तप, त्याग, व्रत, वैराग्य आदि भावनाओं की प्रमुखता दृष्टिगत होती है। वस्तुतः, धर्म के विभिन्न उपदेशों के प्रचार-प्रसार-कार्य को ही लक्ष्य में रखकर प्राकृत के आचार्य कथाकारों ने कथा-साहित्य की रचना की है। उदाहरणार्थ : धर्मदास, पद्मासागर, मलधारी हेमचन्द्र आदि ने उपदेशमाला; जयसिंह यशोदेव आदि कथाचार्यों ने 'धर्मोपदेशमाला' नाम से पृथक्-पृथक् स्वतंत्र कथा-ग्रन्थों का प्रणयन किया है। इसी प्रकार, जयकीर्ति न 'शीलोपदेशमाला', हरिभद्र ने 'उपदेशपद', मुनिसुन्दर ने 'उपदेशकन्दलि' की रचना की। इनके अतिरिक्त भी 'उपदेशचिन्तामणि', 'उपदेशरत्नकोश', 'संवेगरंगशाला', 'विवेकमंजरी' आदि कितने ही कथा-ग्रन्थों की रचना हुई।

औपदेशिक कथा-साहित्य में 'उपदेशमाला' की लम्बी रचना-परम्परा मिलती है। 'उपदेशमाला' में जिनेन्द्र के उपदेशों को गुम्फित किया गया है, जिनमें कथा-तत्त्व के आधान के लिए ऋषिप्रोक्त दृष्टान्तों का स्मरणीय विनियोग हुआ है, जिससे कथा वैराग्यप्रधान हो गई है। कथाचार्यों ने 'उपदेशमाला' की कथाओं को शान्तिदायिनी, कल्याणकारिणी और मंगलमयी कहा है।

ईसवी-सन् की चौथी-पाँचवीं शती के विद्वान कथाकार धर्मदासगणी द्वारा रचित तथा एल. पी. तेस्सीतोरी द्वारा सम्पादित तथा धर्म प्रसारक सभा की ओर से सन् 1915 ई. में प्रकाशित 'उपदेशमाला' की कथाओं की तुलना निर्युक्ति और प्रकीर्णकों के आख्यानों से की जा सकती है। इस सन्दर्भ का विशद विश्लेषण डॉ. ए.एन. उपाध्ये द्वारा सम्पादित 'बृहत्कथाकोष' की प्रस्तावना में उपलब्ध है। इस महत्त्वपूर्ण कथाग्रन्थ पर अनेक विद्वानों ने टीकाओं की रचना की है।

परवर्ती काल में 'उपदेशमाला' के अनुकरण पर 'धर्मोपदेशमाला' आदि जैसे

* आधारग्रन्थ : प्राकृत साहित्य का इतिहास (डॉ. जगदीशचन्द्र जैन)

** लेखक प्राकृत साहित्य के विद्वान तथा परिषद पत्रिका, पटना के संपादक रहे हैं।

औपदेशिक कथाग्रन्थों की रचना हुई। धर्मदासगणी की 'उपदेशमाला' में कथाओं के व्याज से प्राकृत परम्परा का एक ऐसा इतिहास प्रस्तुत किया गया है; जिसमें साहित्य, धर्मनीति और संस्कृति से सन्दर्भित कथा-चेतना विभिन्न आयामों में मुखरित हुई है।

'धर्मोपदेशमाला' की वर्ण्य वस्तु का पल्लवन चार विश्रामों में हुआ है। प्रथम विश्राम में रणसिंह, चन्दनबाला, प्रसन्नचन्द्र, भरत, ब्रह्मदत्त आदि की कथाएँ वर्णित हैं। द्वितीय विश्राम में मृगावती, जम्बूस्वामी, भवदेव कुबेरदत्त, मकरदंष्ट्रा वेश्या, भौताचार्य, चिलातिपुत्र, हरिकेश, वज्रस्वामी, वसुदेव आदि की कथाएँ उपन्यस्त हैं। तृतीय विश्राम में शालिभद्र, मेलार्यमुनि, प्रदेशी राजा, कालकाचार्य, वारत्रक मुनि, सागरचन्द्र, गोशाल, श्रेणिक, चाणक्य, आर्य महागिरि, सत्यकि, अन्निकापुत्र आदि की कथाओं के साथ ही चार प्रत्येकबुद्ध की भी कथाएँ हैं।

इन कथाओं में संवाद-कथाएँ भी हैं। उदाहरण के लिए, द्वितीय विश्राम की जम्बूस्वामी की कथा में योगराज और एक पुरुष का संवाद है। सबसे अधिक रेखांकित करने योग्य विषय-वस्तु यह है कि इन उपदेश-कथाओं में जैन और बौद्ध के समन्वय-बिन्दु का भी सन्धान किया गया है। इन कथाओं का मूल स्वर है विनय। शासन में विनय को मूल्य दिया गया है, जिसकी महत्ता आज भी प्रासंगिक है। एक उदाहरण :

विणओ सासणे मूलं विणीओ संजओ भवे।

विणयाओ विप्पमुक्कस्स कओ धम्मो कओ तवो॥

अर्थात् शासन में विनय मुख्य है। विनीत व्यक्ति ही संयत हो सकता है। विनयरहित व्यक्ति में धर्म कहाँ और तप कहाँ?

'उपदेशमाला' में कुल 542 प्राकृत-गाथाएँ हैं, जिनमें सत्तर कथानकों उपदेश-कथाओं के लेखकों में आठवीं शती के आचार्य हरिभद्र सूरि एक प्रतिष्ठित हस्ताक्षर हैं। वे जितने बड़े दार्शनिक चिन्तक थे, उतने ही बड़े कथाकार भी। वे याकिनीमहत्तरा के धर्मपुत्र थे और 'विरहांक' पद से प्रख्यात थे। इनके द्वारा प्रणीत औपदेशिक कथाओं का संग्रह 'उपदेशपद' नाम से प्रसिद्ध है, जो कथा-साहित्य का मूल्यवान् कोष है। इस कथाग्रन्थ की रचना ग्रन्थकार ने अल्पधी व्यक्तियों के प्रबोध के लिए की है। इसमें धर्मकथानुयोग के माध्यम से जैनधर्म की जनकल्याणकारी सरल लौकिक औपदेशिक कथाएँ संकलित हैं। इसमें कुल 1039 गाथाएँ हैं, जो आर्या छन्द में निबद्ध हैं।

इस औपदेशिक कथाग्रन्थ में नन्दिसूत्र, उत्तराध्ययन-निर्युक्ति आदि जैसे महनीय प्राकृत-आगमों की गाथाएँ गर्भित हैं। इस कथाग्रन्थ पर 'स्याद्वादरत्नाकर' के प्रणेता वादिदेवसूरि के गुरु मुनिचन्द्र सूरि ने टीका लिखकर इसकी महत्ता में ततोऽधिक वृद्धि की है। अनेक सुभाषितों और सूक्तियों से परिपूर्ण यह कथाग्रन्थ उपदेश-साहित्य में एक समृद्धिकर निक्षेप के रूप में स्वीकरणीय है।

इस कथाकृति में मनुष्य-जन्म की दुर्लभता, विनय की महिमा, बुद्धि की व्यापकता

आदि विषयों को अनेक पहेलियों और प्रश्नोत्तरों के रूप में मनोरंजक आख्यानों के माध्यम से उपन्यस्त किया गया है, जो भारतीय कथा-साहित्य के वैविध्य के अध्ययन की दृष्टि से सातिशय उपादेय है। एक प्रश्नोत्तरात्मक कथा यहाँ निदर्शित है :

एक बार किसी बौद्ध भिक्षु ने गिरगिट को अपना सिर हिलाते हुए देखा। तभी वहाँ एक श्वेताम्बर साधु उपस्थित हुआ। बौद्ध भिक्षु ने उसे देखकर हास्य करते हुए पूछा 'हे क्षुल्लक, तुम तो सर्वज्ञ के पुत्र हो। बताओ, यह गिरगिट सिर क्यों हिला रहा है?' क्षुल्लक ने तुरत ही उत्तर दिया 'हे शाक्यव्रतिन्, तुम्हें देखकर यह गिरगिट चिन्ताकुल हो उठा है, इसलिए ऊपर-नीचे देख रहा है। तुम्हारी दाढ़ी-मूँछ देखकर तुम्हें भिक्षुक समझ रहा है, किन्तु जब इसकी दृष्टि तुम्हारे लम्बे शाटक (चीवर) पर जाती है, तब तुम इसे भिक्षुणी के रूप में दिखाई पड़ते हो। इसके सिर हिलाने का यही कारण है।' बेचारा बौद्ध भिक्षु निरुत्तर हो गया।

वैनयिक बुद्धि को उदाहृत करते हुए 'उपदेशपद' के टीकाकार ने अट्टारह प्रकार की लिपियों का उल्लेख किया हैहंसलिपि, भूतलिपि, यक्षी, राक्षसी, उड्डी, यवनी, फुडुक्की, कीडी, दविडी, सिंधविया, मालविणी, नटी, नागरी, लाटलिपि, पारसी अनिमित्ता चाणक्यी और मूलदेवी। उस समय खड़िया मिट्टी के अक्षर बनाकर खेल-खेल में लिपि का ज्ञान कराया जाता था।

आचार्य हरिभद्र का यह 'उपदेशपद' केवल औपदेशिक कथाग्रन्थ ही नहीं है, अपितु यह भारतीय जीवन और संस्कृति की वृहत्कथा है। इसमें परिगुम्फित कथाएँ अनेक कथारूढ़ियों और मिथक-प्रतीकों से समाकीर्ण हैं तथा ऐतिहासिक जैन पुरुष-महिलाओं के अतिरिक्त जैनाम्नाय में परिदीक्षित राम और कृष्ण के भी समुज्ज्वल रसपेशल चरित्रों से समुद्भासित हैं। औपदेशिक कथाकारों द्वारा विकल्पित कथाओं की मौलिकता इसलिए स्वीकार्य नहीं है कि ये पारम्परिक हैं; किन्तु मौलिकता इस अर्थ में स्वीकार्य है कि ये नये ढंग से गूँथी गई हैं। ग्रथन-कौशल से ही इसमें नव्यता का संयोजन हुआ है।

उपरिचर्चित 'धर्मोपदेशमाला' नवीं शती (ई. सन् 858) के जयसिंह सूरि द्वारा रची गई है। यह सिंधी जैन ग्रन्थमाला द्वारा सन् 1949 ई. में प्रकाशित है। ये कृष्णमुनि के शिष्य थे। इस कथाकृति में 98 गाथाएँ हैं, जिनमें 156 कथाएँ समाकलित हैं। प्रत्येक कथा की समाप्ति में ज्ञान की अधिष्ठात्री देवी श्रुतदेवी को नमस्कार करते हुए विद्वान् कथाकार ने बताया है कि इस ग्रन्थ के पठन-पाठन से कर्मों का क्षय होता है।

इस कथाग्रन्थ में महाकवि बाणभट्ट-रचित 'कादम्बरी' के रमणीय गद्य की काव्यभाषिक छटा दृष्टिगत होती है। इस कमनीय कथाकृति के रचयिता जयसिंह सूरिजी अलंकारशास्त्र के महान् पण्डित थे। इस ग्रन्थ में अलंकारों का मनोहारी विनियोग तो हुआ ही है, विभिन्न देशों, मन्दिरों, नदियों, सरोवरों आदि के मोहनीय प्रकृति-चित्रों की भी मनोहर्षक योजना हुई है। प्रश्नोत्तरी, पादपूर्ति, वक्रोक्ति, गूढोक्ति,

व्याजोक्ति आदि के उदाहरणों से काव्य की शोभा और अधिक बढ़ गई है। महाराष्ट्री में सुगुम्फित इस कृति की काव्यभाषा के सन्दर्भ में कवि की यह श्लेषात्मक गाथा उल्लेखनीय है :

सुललियपयसंचारा पयडियमयणा सुवण्णरयणेत्ता ।

महरठयभासा कामिणी य अडवी य रेहंति॥

अर्थात्, सुललित पदों के विनियोग, प्रकट मनोहारिता तथा सुन्दर कोमल वर्णों के विन्यास से युक्त महाराष्ट्री भाषा कामिनी और अटवी की भाँति शोभा पाती है।

‘धर्मोपदेशमाला’ के रचनाकार ने औपदेशिक कथाओं में नूतन शिल्प-सन्धान और अभिनव रूप-विधान के माध्यम से मनोरम मार्मिकता और रमणीय भावरुचिरता के आधान के साथ ही धार्मिक तत्त्वज्ञान एवं सामाजिक व्यवहार-ज्ञान का चमत्कारी चित्रण किया है। औपदेशिक पारम्परिक कथाएँ मनीषी कथाकार की प्रातिभ दीप्ति से नई निराली बन गई हैं। कवि शब्दशास्त्र का मर्मज्ञ है, जिसका निदर्शन पूरी कथाकृति में उपलब्ध होता है।

‘धर्मोपदेशमाला’ की द्विजतनय-कथा से ज्ञात होता है कि युवती-चरित्र की शिक्षा प्राप्त करने के लिए लोग पाटलिपुत्र जाया करते थे। स्त्रियों के सम्बन्ध में उक्ति है :

रज्जावैति न रज्जति लैति हिययाइं न उण अप्पेति ।

छप्पण्णयबुद्धीओ जुवईओ दो विसरिसाओ॥

अर्थात्, स्त्रियाँ दूसरे का रंजन करती हैं, पर स्वयं रंजित नहीं होतीं। वे दूसरों का हृदय हर लेती हैं, पर अपना हृदय नहीं देतीं। दूसरों की छप्पन बुद्धियाँ उनकी दो बुद्धियों के बराबर हैं।

समयज्ञ साधु की कथा में एक उक्ति है :

सुद्धसहावम्मि जणे जो दोसं देइ पडइ तस्सेव ।

गुंडिज्जइ नणु सो च्विय जो धूलिं खिवइ चंदस्सा॥

अर्थात्, शुद्ध स्वभाववाले मनुष्य को जो दोष देता है, वह दोष उसी के ऊपर आता है। उदाहरण के लिए, यदि कोई चन्द्रमा पर धूल फेंकता है, तो धूल लौटकर फेंकनेवाले पर ही आ गिरती है।

भाषा के अनुशीलन की दृष्टि से, विशेषकर संस्कृत-प्राकृत की समानान्तरता के अध्ययन की दृष्टि से इस ग्रन्थ की अपनी उपादेयता और उपयोगिता है।

जयसिंह सूरि की शिष्य-परम्पराओं में जयकीर्ति का नाम उल्लेख्य है। जयकीर्ति द्वारा रचित कथा ‘शीलतरंगिणी’ के गुजराती-अनुवाद के साथ जैन विद्याशाला, अहमदाबाद से, सन् 1900 ई. में प्रकाशित ‘शीलोपदेशमाला’ (सं. ‘शीलोपदेशमाला’)

में 116 गाथाएँ हैं। प्राचीन जैन महाराष्ट्री में रचित इस ग्रन्थ की गाथाओं द्वारा शील, अर्थात् ब्रह्मचर्य के पालन का उपदेश किया गया है। इस ग्रन्थ पर संघतिलक के शिष्य सोमतिलकसूरि अपर नाम विद्यातिलक ने ‘शीलतरंगिणी’ नाम की वृत्ति की रचना सन् 1337 ई. में की है। इनके अतिरिक्त ललितकीर्ति और पुण्यकीर्ति ने भी इस औपदेशिक कथा-ग्रन्थ पर अपनी-अपनी वृत्ति की रचना की है। इससे स्पष्ट है कि जयकीर्ति की ‘शीलोपदेशमाला’ अपने युग की अतिशय लोकसमादृत कथाकृति रही है।

औपदेशिक कथा-ग्रन्थों में ‘भुवनसुन्दरी’ नाम की कथाकृति की अपनी महत्ता है। नाइल्ल-कुल के आचार्य समुद्रसूरि के दीक्षा-शिष्य विजयसिंह सूरि (ईसा की दसवीं शती) ने ग्यारह हजार श्लोकप्रमाण प्राकृत-गद्य में इसकी रचना की है। इसकी कथानायिका महासती भुवनसुन्दरी है।

औपदेशिक कथाग्रन्थों में ‘भवभावना’ का विशेष मूल्य है। यह वि. सं. 1992 में ऋषभदेव कसरीमलजी जैन, श्वेताम्बर-संस्था रतलाम से प्रकाशित है। इसके रचयिता ईसवी की बारहवीं शती के कथाचार्य मलधारी हेमचन्द्र सूरि हैं। प्रश्नवाहन-कुल के हर्षपुरीय गच्छ में जयसिंह सूरि हुए। उनके शिष्य का नाम अभयदेवसूरि था। अभयदेव निष्परिग्रही थे, अतएव अपने वसन-अशन पर विशेष ध्यान नहीं रखते थे। अपने वस्त्रों की मलिनता के कारण वह ‘मलधारी’ नाम से प्रसिद्ध हो गये थे। श्वेताम्बराचार्य भट्टारक के रूप में लोकादृत मलधारी हेमचन्द्र सूरि इन्हीं अभयदेव सूरि के बहुश्रुत शिष्य थे। मलधारी हेमचन्द्र संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश के धुरन्धर विद्वान् थे। इन्होंने अनेक जैनागमों पर टिप्पण और विवरण की रचना की है। औपदेशिक कथा-लेखकों में ‘उपदेशमाला’ के प्रणेता धर्मदासगणी के बाद इन्हीं का नाम पाँक्तेय है। ‘भवभावना’ धार्मिक और नैतिक कहानियों का अद्वितीय कोष होने के कारण जैनकथा-वाङ्मय में उत्कृष्ट शिखर-कृत के रूप में प्रसिद्ध है। कथाकार की अलंकृत और प्रवाहपूर्ण काव्यभाषा पर असाधारण अधिकार है।

‘भवभावना’ में 531 गाथाएँ हैं, जिनमें बारह भावनाओं का वर्णन किया गया है। इन भावनाओं में ‘भवभावना’ प्रमुख है, जिसमें संसार की भावनाओं का वर्णन-विस्तार 322 गाथाओं में हुआ है। अन्य ग्यारह भावनाओं का निरूपण संक्षेप में किया गया है। ग्रन्थ का अधिकांश प्राकृत-गाथाओं में निबद्ध है। यत्र-तत्र संस्कृत और अपभ्रंश के भी पद्य हैं।

स्वयं कथाकार ने ‘भवभावना’ की स्वोपज्ञ-वृत्ति की रचना की है, जिसमें अनेक धार्मिक एवं लौकिक कथाएँ गुम्फित हैं, जिनमें विभिन्न मनोभावों, जैसे प्रेम, घृणा, लोभ, क्रोध, शत्रुता, मायाजाल, कृतघ्नता, अमीरी, गरीबी, स्त्री-पुरुष-सम्बन्ध, स्वामी-दास-सम्बन्ध आदि का चित्रण निपुणता से किया गया है। प्राकृत और संस्कृत की अनेक सूक्तियाँ भी इसमें नियोजित हैं। इसमें कथाकार ने तीर्थकर नेमिनाथ के

चरित्र-वर्णन को प्रमुखता से उपस्थापित किया है। इन्होंने देशभाषा और देशाचार के ज्ञान को मूल्य देकर पाठकों में राष्ट्रीय चेतना का संचार किया है, जिसकी महत्ता आज भी प्रासंगिक है। कथाकार्य लिखते हैं :

*न मुणेइ देसभासा देसायारं न नीइ विन्नाणं ।
तत्तो धुत्तेहि पए पए च वंचिज्जए अबुहो॥*

अर्थात्, जो देशभाषा और देशाचार को नहीं जानता, वह मूर्ख है। उसे धूर्तजन पग-पग पर ठगते हैं।

‘भवभावना’ मुख्यतः विश्वविश्रुत कथाकोविद आचार्य संघदासगणी (ईसा की तृतीय-चतुर्थ शती) द्वारा रचित वसुदेवचरित ‘वसुदेवहिण्डी’ का पुनराख्यान है। साथ ही, इसमें पूर्ववर्ती औपदेशिक कथाग्रन्थों की भी प्रभावान्विति प्रचुरता से दृष्टिगत होती है। इस कथाग्रन्थ की रचना-प्रक्रिया में ऐतिहासिक तथ्य एवं मिथकीय चेतना का अपूर्व संयोग घटित हुआ है। इस ग्रन्थ को भी भारतीय जीवन और संस्कृति की वृहत्कथा कहा जाएगा, तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी।*

महान् मानवतावादी कथाकार मलधारी हेमचन्द्र सूरि ने अपनी इस महनीय कथाकृति में लोकजीवन का एक विराट् संसार ही उपन्यस्त कर दिया है। उनके द्वारा प्रस्तुत लोकजीवन में जीवन की समष्टि या सांस्कृतिक सामासिकता से समृद्ध समाज की मनोद्भावना व्यापक रूप से हुई है, जिसमें मानवीय जीवन की यथार्थता और विविधता का विनियोग अतिशय प्रभावकारी ढंग से हुआ है। इसकी उल्लेखनीय विशेषता यह है कि इसमें सामाजिक तत्त्व और कला-चेतना का सफल समन्वय हुआ है।

कथाकार द्वारा उपन्यस्त ‘नेमिनाथचरित’ में कृष्णकथा को नये आस्वाद के साथ परिवेषित किया गया है। इसमें नीतिविरोधी जरासन्ध के वध के लिए कृष्ण के सदल-बल सिणवल्ली पहुँचने का उल्लेख है। यह प्रदेश द्वारकानगरी की पूर्वोत्तर दिशा में पैतालीस योजन की दूरी पर अवस्थित था। इसमें, नेमिनाथ की कथा के प्रसंग में; राजीमती का जन्म, द्रौपदीहरण, नेमिनाथ और कृष्ण का मल्लयुद्ध, रैवत पर्वत पर वसन्तक्रीडा, राजीमती के विवाह की तैयारियाँ, बारात का आगमन, पशुओं का चीत्कार, नेमिनाथ का बिना विवाह किये लौट जाना, राजीमती का विलाप, दीक्षा का महोत्सव, नेमिनाथ का निर्वाण आदि का विशद चित्रण किया गया है। नेमिनाथ के चरित के सम्बन्ध में कथाकार ने लिखा है कि जो इस पावन चरित को सुनता, पढ़ता, बखानता और लिखता है, वह जरा, मरण और रोग के भय से मुक्त रहकर शाश्वत पद का अधिकारी होता है।

‘भवभावना’ के अतिरिक्त इस कथाग्रन्थ की कुछ प्रमुख भावना इस प्रकार हैं : ‘अनित्यभावना’, जिसमें बलिराजा और भुवनभानु के चरित का विस्तृत वर्णन है। ‘अशरणभावना’, जिसमें कौशाम्बी के राजाओं का वर्णन है। ‘एकत्वभावना’ में राजा मधु

का दृष्टान्त है। ‘अन्यत्वभावना’ में धन नामक पात्र की कथा है। इसी प्रकार, अनेक रोचक और रंजक कथाओं से संकलित अशुचिभावना, आस्रवभावना, संवर-भावना, निर्जराभावना, उत्तमगुण भावना आदि विविध सुभाषितों की प्रचुरता से इस कथाग्रन्थ में वैचारिक प्रौढि के गुणों का समीचीन विनियोग हो गया है। एक सुभाषित द्रष्टव्य है :

*पढमं पि आवयाणं चित्तियव्वो नरेण पडियारो ।
न हि गेहम्मि पलित्ते अवडं खण्डं तरइ कोई॥*

अर्थात्, विपत्ति के आने के पहले ही उसका उपाय सोचना चाहिए। घर में आग लगने पर क्या कोई कुआँ खोद सकता है?

कहना न होगा कि ‘भवभावना’ के सुभाषितों पर ‘हितोपदेश’, ‘पंचतन्त्र’ आदि नीतिग्रन्थों का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है। इस प्रकार, ‘भवभावना’ ऐसा कथाग्रन्थ है, जो अपने-आपमें सुभाषित-रत्नों का भाण्डागार भी बन गया है। इसमें पूर्ववर्ती जैन कथाग्रन्थों को यथाप्रसंग सन्दर्भित किया गया है, जिसमें ‘व्याख्याप्रज्ञापित’, ‘प्रज्ञापना’, जीवाजीवाभिगम, ‘पउमचरिय’, ‘उपमितिभव-प्रपंचकथा’ आदि उल्लेख्य हैं।

औपदेशिक कथा-साहित्य के अन्तर्गत मलधारी हेमचन्द्रसूरि की अन्य रचना ‘उपदेशमाला’ प्रकरण उल्लेखनीय है। इसकी अपरसंज्ञा ‘पुष्पमाला’ भी है। यह ऋषभदेवजी केसरीमल संस्था द्वारा सन् 1936 ई. में इन्दौर से प्रकाशित है। ‘उपदेशमाला’ प्रकरण कथाग्रन्थ ‘भवभावना’ की भाँति ही विषय, भाषा-शैली और कवित्व की दृष्टि से अतिशय उत्कृष्ट है। इसमें 505 गाथाएँ हैं, जो बीस अधिकारों में विभक्त हैं अभयप्रदान, ज्ञान, दान, शील, तप, भावना सम्यक्त्वशुद्धि, चारित्रशुद्धि, इन्द्रियजय, कषायनिग्रह, गुरुकुल-वा, दोष-विकटन, विराग, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय-रति, अनायतन-त्याग, परपरिवाद-निवृत्ति, धर्मस्थिरता और परिज्ञान। इस पर स्वयं लेखक ने स्वोपज्ञ-वृत्ति की रचना की है। साधुश्रेष्ठ सोम ने भी इसे अपनी टीका से समलंकृत किया है।

कथाकार के अपने मन्तव्य के अनुसार, जिन वचन-रूप उपवन से सुन्दर उपदेश-रूप पुष्पों का चयन कर इस ‘उपदेश-माला’ या ‘पुष्पमाला’ की रचना की गई है, जिसमें सुन्दर वर्णों (रंगों) और अनुपम गुणों (सूत्रों) का प्रयोग किया गया है। इस कथाकृति में श्रुतानुसारी विविध दृष्टान्तों के माध्यम से कर्मों के क्षय का उपाय निर्दिष्ट हुआ है। साथ ही, इसमें जैन तत्त्वोपदेश से सन्दर्भित अनेक उत्कृष्ट धार्मिक और लोकजीवन से जुड़ी कथाएँ विशद रूप से मनोरम काव्यभाषा में गूँथी गई हैं।

इस कथाग्रन्थ पर भी आचार्य संघदासगणिवाचक की कालोत्तीर्ण कथाकृति ‘वसुदेवहिण्डी’ की प्रचुर प्रभावान्विति दृष्टिगत होती है। पुनः आवश्यकतानुसार कथाकार ने सिद्धर्षि-रचित ‘उपमितिभवप्रपंचकथा’ में वर्णित रूपक-तत्त्वों का भी आधार ग्रहण किया है।

कथाकार ने जिन बीस अधिकारों में स्वीकृत विषयों का विनियोग किया है, उन अधिकारों को 'द्वार' शब्द से संज्ञित किया है, जैसेज्ञानद्वार, दानद्वार, शीलद्वार, चारित्रशुद्धिद्वार, भावनाद्वार आदि। कथाकार द्वारा प्रस्तुत कथाओं का मुख्य प्रतिपाद्य है : मनुष्य-जन्म दुर्लभ है। धर्म मोक्ष-सुख का मूल है। अहिंसा सब धर्मों में श्रेष्ठ है। ज्ञान और बुद्धिपूर्वक सतत उद्यम करना चाहिए। अकृपणतापूर्वक स्वामित्व की भावना से रहित होकर सुपात्र के लिए दान करना चाहिए। शील चरित्र का सार है। सम्यक्त्वशुद्धि के निमित्त भावना से अपने को भावित करना चाहिए। अहिंसा-व्रत की सिद्धि चरित्र की शुद्धि से ही सम्भव है।

कथाकार मलधारी हेमचन्द्र सूरि ने अपनी इस कथाकृति के बीसों प्रकरणों या द्वारों के माध्यम से जीवन के सर्वतोभद्र अभ्युदय का सन्देश दिया है तथा इस अभ्युदय की प्राप्ति के लिए सम्यक् उपायों का भी निर्देश किया है। चारित्रशुद्धिद्वार में बारह व्रतों और उनके अतिचारों के दृष्टान्तों को मनोरम शैली में उपन्यस्त किया गया है। कथाकार ने बताया है कि अट्टारह प्रकार के अयोग्य पुरुषों और बीस प्रकार की अयोग्य स्त्रियों तथा नपुंसकों को दीक्षा का निषेध है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह, इन पाँचों महाव्रतों के सन्दर्भ में क्रमशः धर्मरुचि, कालकाचार्य, नागदत्त, सुदर्शन और कीर्तिचन्द्र के कथानक प्रस्तुत किये गये हैं। पाँचों महाव्रतों की, रत्नों के समान रक्षा करने का विधान बताया गया है। रात्रिभोजन-त्याग के समर्थन में रविगुप्त और रत्नपुरुष के उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं और ब्राह्मणों की स्मृति से प्रमाण दिये गये हैं।

कथाकार ने नैतिक और राष्ट्रीय चरित्र के विकास के लिए भारतीय संस्कृति की मर्यादा को पूरे कथाग्रन्थ में साग्रह उपस्थापित किया है। इन्होंने जातिवाद का खण्डन किया है, साथ ही 'अपुत्रस्य गतिर्नास्ति' जैसे लोकविश्वास या धार्मिक विश्वास का भी निराकरण किया है। गुरु के गुणों का मूल्यांकन करते हुए इन्होंने शिष्य के लिए विनयी होना आवश्यक कहा है। शिष्य को चाहिए कि वह गुरु की मानसिकता को समझनेवाला, दक्ष और शान्त स्वभाव का हो। जैसे कुलीन स्त्री अपने पति के आक्रुष्ट होने पर भी उसे नहीं छोड़ती, वैसे ही गुरु के आक्रुष्ट होने पर भी विनयी शिष्य को गुरु का त्याग नहीं करना चाहिए। शिष्य के लिए गुरु की आज्ञा सर्वोपरि है। कथाकार ने परदोष की चर्चा को गर्हित कार्य कहा है। इन्होंने जिनपूजा के साथ ही आराधना-विधि को आवश्यक बताया है।

कुल मिलाकर, औपदेशिक कथाओं के प्रणयन में निष्णात मलधारी हेमचन्द्र सूरि ने नैतिक, धार्मिक और पौराणिक कथाओं के माध्यम से तद्युगीन समस्याओं को विशिष्ट सन्दर्भ देने की चेष्टा की है। इस क्रम में इन्होंने जहाँ सामाजिक स्थिति का रोचक विन्यास किया है, वहीं सांस्कृतिक चेतना को अभिनव आयाम दिया है। इसके

अतिरिक्त, लोकजीवन को धार्मिक एवं नैतिक या आचारनिष्ठ आवेश से मण्डित करने की भावना से अभिभूत सहृदय कथाकार ने धर्मसाधना को प्रतिष्ठित करनेवाली, पौराणिक पुरुषों की चरितात्मक कथाओं के सफल संकलन और सश्लिष्ट संयोजन द्वारा मानव को आत्मिक उत्थान का शाश्वत सनातन सन्देश दिया है।

औपदेशिक कथा के प्रणेतारों में विक्रम की बारहवीं शती (सन् 1068 ई.) के कथाकार जिनचन्द्र सूरि का नाम पाँवतेय है। इनकी 'संवेगरंगसाला' का औपदेशिक कथाग्रन्थों में उल्लेखनीय स्थान है। यह जिनदत्तसूरि प्राचीन पुस्तकोद्धार फण्ड, बम्बई द्वारा सन् 1924 ई. में प्रकाशित है। प्राकृत-जैनशास्त्र के शलाकापुरुष प्रो. ए. एन. उपाध्ये ने 'बृहत्कथाकोष' की भूमिका में 3053 गाथाओंवाले इस यथाप्रकाशित संस्करण की अपूर्णता की ओर ध्यान आकृष्ट करते हुए शिवकोटि की 'मूलाराधना' के साथ इसका सादृश्य सिद्ध किया है। जिनदत्तसूरि की 'संवेगरंगसाला' का सम्पादन-संशोधन नवांगवृत्तिकार अभयदेवसूरि के शिष्य जिनवल्लभ सूरि ने किया है।

'संवेगरंगसाला' शान्तरसप्रधान औपदेशिक कथाग्रन्थ है। इसमें मुख्यतया संवेगभाव का प्रतिपादन हुआ है। इस सन्दर्भ में कथाकार ने कहा है :

*जह जह संवेगरसो वण्णिज्जइ तह तहेव भव्वाणं।
भिज्जांति खित्तजलमिम्मयामकुंभव्व हियमाइं।
सुचिरं वि तवो तवियं चिण्णं चरणं सुयं पियबहुपडिय।
जइ नो संवेगरसो ता तं तुसखंडणं सव्वं।*

अर्थात् भव्यजनों के प्रति संवेगरस के वर्णन से हृदय वैसे ही द्रवित हो जाता है, जैसे मिट्टी के कच्चे घड़े पर पानी डालने से वह गल जाता है। संवेगरस (भव-वैराग्यः निर्वेद) के बिना लम्बी तपस्या, चारित्र का पालन और श्रुत (शास्त्र) का बहुपाठ, सब कुछ धान के भूसे की भाँति निस्सार है, व्यर्थ है।

गौतमस्वामी महासेन राजर्षि की कथा का बखान करते हैं। राजर्षि होने के पूर्व राजा संसार का त्याग कर मुनिदीक्षा ग्रहण करना चाहता है। इस अवसर पर राजा और रानी के बीच जो संवाद होता है, वह अतिशय मार्मिक है। रानी की सांसारिक आसक्ति का उत्तर राजा शान्त और निरासक्त भाव से देता है। शृंगार पर शान्त रस की विजय-वार्ता एक मनोरम कथा बन गई है। रानी कहती है 'हे राजन्! कुछ दिन तो और गृहवास करो, ऐसी भी क्या जल्दी पड़ी है?' राजा कहता है 'भवमुक्ति-रूप कल्याण-कार्य में बहुत विघ्न आते हैं, इसलिए क्षणभर भी देर करना उचित नहीं।' मूल गाथा इस प्रकार है :

*देवी कइयवि दिणाणि निवसह सगिहे च्विय ऊसुगा होह।
राजा बहुविग्घे सेयत्थे खर्णापि कह गिवसिउं जुत्तां।*

इस कथाकृति में आराधना के उपदेश के क्रम में मधुराजा और सुकोमल मुनि के दृष्टान्त उपस्थित किये गये हैं। पुनः विस्तार से आराधना का स्वरूप-निरूपण किया गया है और आराधना के धारकों के रोचक दृष्टान्त भी उपन्यस्त हुए हैं।

उपदेशात्मक कथाओं के रचयिताओं में विक्रम की तेरहवीं शती (ईसवी-सन् 1191) के महाकवि आसड का नाम बहुख्यात है। इन्होंने 'विवेकमंजरी' नामक औपदेशिक कथा-ग्रन्थ की रचना की है। यह भिल्लमाल या श्रीमाल-वंश के कटुकराज के पुत्र थे। इन्होंने राजा भीमदेव के महामात्य-पद को अलंकृत किया था। महाकवि आसड ने अपने-आपको महाकवि कालिदास के समान कीर्तिशाली बताया है। यह 'कविसभा-शृंगार' के रूप में प्रसिद्ध थे। इन्होंने कालिदास के कालोत्तीर्ण काव्य मेघदूत पर टीका की रचना की है तथा 'उपदेशकन्दलीप्रकरण' एवं अनेक जिनस्तोत्रों और स्तुतियों का प्रणयन किया है। 'उपदेशकन्दली' में उपदेशकथात्मक एक सौ बीस गाथाएँ संकलित हैं।

मोहनलाल दुलीचन्द देसाई-कृत 'जैन साहित्यनो संक्षिप्त इतिहास' (गुजराती) से ज्ञात होता है कि महाकवि आसड का बालसरस्वती नामक पुत्र तरुण वय में ही कालगत हो गया। अभयदेवसूरि ने महाकवि को पुत्रशोक से मुक्ति के लिए 'विवेकमंजरी' ग्रन्थ लिखने को प्रेरित किया। इस कथाग्रन्थ पर बालचन्द्र और अकलंकने टीका की रचना की है।

औपदेशिक कथाग्रन्थों में 'उवएसरयणायर' (सं. उपदेशरत्नाकर) का भी महत्वपूर्ण स्थान है। यह विक्रम की पन्द्रहवीं शती (ईसवी-सन् 1319) के आसपास की रचना है। इसके रचयिता सामसुन्दर सूरि के शिष्य सहस्रावधानी मुनिसुन्दर सूरि हैं। ये 'बालसरस्वती' और 'वादिगोकुलषण्ड' के नाम से सम्मानित किये जाते थे। यह कथाग्रन्थ भी लेखक की स्वोपज्ञ-वृत्ति से संवलित है। स्वोपज्ञ-वृत्तिसहित इसके प्रथम दो भाग देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार-ग्रन्थमाला में, सन् 1914 ई. में बम्बई से प्रकाशित है। ग्रन्थ की सम्पूर्ण आवृत्ति चन्दनसागरजी के गुजराती अनुवाद एवं प्रोफेसर हीरालाल र. कापड़िया की प्रस्तावना-सहित जैन पुस्तकप्रचार संस्था द्वारा वि. सं. 2005 में प्रकाशित हुई है।

यह 'उपदेशरत्नाकर' कथाग्रन्थ तीन तटों में विभक्त है-प्रथम, मध्यम और अपर। प्रथम दो तटों में चार-चार अंश और फिर प्रत्येक अंश में तरंग हैं। अन्तिम अपर तट के आठ विभाग हैं, जिनमें प्रथम चार 'तरंग' शब्द से संज्ञित हैं। इस कृति में अनेक-आयामी दृष्टान्तों के माध्यम से धर्म का प्ररूपण किया गया है, जिसमें अनेक आचार्यों, श्रेष्ठियों, मन्त्रियों आदि की कथाएँ अनुस्यूत हुई हैं। कथाक्रम में महाभारत आदि ब्राह्मणग्रन्थ तथा महानिशीथ आदि श्रमणग्रन्थ सन्दर्भित हुए हैं। रागासक्त, दुष्ट, मूढ और पूर्वाग्रह से युक्त व्यक्ति को उपदेश के अयोग्य बताया गया है एवं जिज्ञासु, समर्थ, मध्यस्थ, परीक्षक, धारक, विशेषज्ञ, अप्रमत्त, स्थिरचित्त और जितेन्द्रिय व्यक्ति

को उपदेश का पात्र कहा गया है। इसमें योग्य और अयोग्य गुरुओं को भी लक्षित किया गया है। जैसे जल, फल, छाया और तीर्थ से रहित पर्वत अपने आश्रितजनों के लिए कष्टप्रद होते हैं, वैसे ही श्रुत, चारित्र, उपदेश और अतिशय (महिमा-वैशिष्ट्य) से रहित गुरु अपने शिष्यों के लिए क्लेशदायी होते हैं। पशु-पक्षियों के दृष्टान्तों द्वारा कथाकार ने मिथ्यात्व के बन्धन में आबद्ध अधम जीवों का वर्णन प्रभावक शैली में किया है। जैन महाराष्ट्री में निबद्ध औपदेशिक कथा-साहित्य प्रकारतः और परिमाणतः विपुल है। उपरिविवेचित कथाग्रन्थों के अतिरिक्त निम्नांकित उपदेशात्मक अथवा धर्मोपदेशमूलक कथा-ग्रन्थों का भी श्रेण्य और आशंसनीय महत्त्व है। जैसे : वर्धमानदेशना, अन्तरंगप्रबोध, अन्तरंगसन्धि, गौतमभाषित, दशदृष्टान्तगीता, (सोमविमल), नारीबोध, हिताचरण, हितोपदेशामृत, हितोपदेशमाला, प्रकरण, उपदेशचिन्तामणि, प्रबोधचिन्तामणि, उपदेशसप्ततिका, उपदेशतरंगिणी, आत्मानुशासन, धर्माभूत, धर्मोपदेशप्रकरण, धर्मसर्वस्वाधिकार आदि।

उपदेशकथात्मक साहित्य के जिज्ञासुओं के लिए महत्वपूर्ण कथाग्रन्थों की एक तालिका यहाँ प्रस्तुत है, जो पार्श्वनाथ विद्यापीठ; वाराणसी से प्रकाशित 'जैन साहित्य का बृहद् इतिहास' (भाग 4) से आकलित है।

1. हितोपदेशमालाप्रकरण (परमानन्दसूरि : वि. सं. 1304)
2. उपदेशचिन्तामणि (जयशेखरसूरि : हीरालाल हंसराज द्वारा सन् 1919 ई. में प्रकाशित)
3. प्रबोधचिन्तामणि (जयशेखरसूरि : वि. सं. 1462)
4. उपदेशसप्ततिका : अपरनाम गृहस्थधर्मोपदेश (सोमधर्मगणी : वि. सं. 1503)
5. उपदेशतरंगिणी : धर्मोपदेशतरंगिणी (रत्नमन्दिरगणी : विक्रम की सोलहवीं शती)
6. आत्मानुशासन (दिग. जिनसेनाचार्य के शिष्य गुणभद्र)
7. धर्मसार (हरिभद्रसूरि : ईसवी आठवीं शती)
8. धर्मबिन्दु (उपरिवत्)
9. धर्माभूत (दिग. आशाधर : विक्रम की बारहवीं-तेरहवीं शती)
10. धम्मविहि : धर्मविधि (श्रीप्रभसूरि)
11. सम्यक्त्वकौमुदी (जिनहर्षगणी : वि. सं. 1487)
12. सट्ठिसयः षष्टिशत (भाण्डागारिक नेमिचन्द्र : विक्रम की तेरहवीं शती)
13. दाणसीलतवभावनाकुलयः दानशीलतपोभावनाकुलक (दिवेन्द्रसूरि : वि. सं. 1327)
14. दाणुवएसमाला : दानोपदेशमाला (दिवेन्द्रसूरि : विक्रम-संवत् 1327)

15. विवेकविलास : विवेकविलास (जिनदत्तसूरि : सन् 1231 ई.)
16. वद्धमानदेशण : वद्धमानदेशना (शुभवर्धनगणी : वि. सं. 1552)
17. वद्धमानदेशना (गद्यात्मक कृति : राजकीर्तिगणी)
18. संबोधसत्तरि : सम्बोधसप्तति (रत्नशेखरसूरि)
19. वज्जालग (गाथा सं. 795) : जयवल्लभ (विक्रम की चौदहवीं शती)
20. अणुसासर्णकुसकुलय : अनुशासनांकुशकुलक (मुनिचन्द्र सूरि : विक्रम की बारहवीं शती)
21. नाणप्पया : ज्ञानप्रकाश (जिनप्रभसूरि : पद्य-सं. 113)
22. सामण्णगुणोवएस कुलय : सामान्यगुणोपदेशकुलक (मुनिचन्द्रसूरि : पद्य-सं. 25)
23. दुवालसकुलय : द्वादशकुलक (खरतरगच्छीय जिनवल्लभसूरि : पद्य-सं. 232)
24. उवएसकुलय : उपदेशकुलक (मुनिचन्द्रसूरि : गाथा-सं. 33)
25. गाहाकोस : गाथाकोश (मुनिचन्द्रसूरि : श्लोक-परिमाण सं. 384)

यह तालिका केवल दिग्दर्शन के लिए है। यों औपदेशिक कथाग्रन्थ का विस्तार अतिशय विपुल है, जिसमें जीवन-शोधन और आध्यात्मिक उन्नति की महार्थ सामग्री भरी पड़ी है।

औपदेशिक कथा-साहित्य में कथातत्त्व के माध्यम से दार्शनिक तथ्यों तथा धर्मसम्बन्धी सिद्धान्तों की विशद चर्चा की गई है, जिससे कथातत्त्व सहज ही मन्दप्रभ हो गया है, जिससे कथात्मक परिवेश का भी अभाव हो गया है। कथा की वर्णन-शैली से ऐसा प्रतीत होता है कि कथाकारों ने धर्मोपासना और आराधना आदि जीवनकल्याणकारी तत्त्वों को सर्वजनसंवेद्य बनाने के लिए उपदेशात्मक शैली अंगीकृत की है। कथा के पात्रों के नाम और उनके कार्य बिल्कुल पौराणिक शैली में उपस्थापित किये गये हैं और कथा की शैली तो टीकायुगीन कथाओं के समान हैं। परिणामतः, कथावस्तु में प्रवाह और घटनाओं में तारतम्य नहीं आ पाया है। पात्रों के चरित्रों का समीचीन विकास भी नहीं हो पाया है। लेकिन इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि औपदेशिक कथाकारों ने पात्रों की मनोवृत्तियों का विश्लेषण बहुत ही सूक्ष्मता के साथ किया है।

निष्कर्ष रूप में कहें तो औपदेशिक कथाओं के स्रष्टाओं ने कथाओं की रचना प्रक्रिया में समकालीन सामाजिक समस्याओं का उद्भावना किया है, पारिवारिक जीवन के कटु-मधु चित्रों का अंकन किया है, विषयवस्तु में जीवन की विविधताओं और विसंगतियों का वर्णन किया है, कथाओं के ही माध्यम से धार्मिक तत्त्वों या सिद्धान्तों का निरूपण किया है; प्रेम, त्याग, शील आदि मनोभावों की घटनाओं के माध्यम से अभिव्यक्ति के क्रम में जीवन के शाश्वत मूल्यों का संयोजन किया है और भाषिक सरलता तथा अर्थ की बोधगम्यता के विनिवेश द्वारा कथाओं को आपाततः प्रसादगुण से अभिमण्डित किया है।

प्राकृतपैंगलम् और आधुनिक भाषाएँ

राजमल बोरा*

1

गुणादय की बृहत्कथा (पैशाची), हाल की गाथा सप्तशती (गाहा सतसई), महाराष्ट्री की प्राकृतपैंगलम् (महाराष्ट्री) प्राकृत की ऐसी रचनाएँ हैं, जो प्राकृत भाषा के साहित्य को ज्ञापित करने वाली रचनाएँ हैं। इनमें प्रथम रचना (गुणादय की) को छोड़ दें तो दूसरी और तीसरी रचनाएँ संकलन या संग्रह हैं। सच तो यह है कि प्राकृत भाषा के साहित्य के उत्कर्ष को समझने में (प्रथम शताब्दी से चौदहवीं शताब्दी तक) इनसे सहायता मिलती है। गुणादय की मूल रचना तो उपलब्ध नहीं है किन्तु बाद की दूसरी और तीसरी रचनाएँ उपलब्ध हैं। उपलब्ध दोनों रचनाएँ संकलन तथा संग्रह होने पर भी प्राकृत साहित्य की काल-सीमाओं को दर्शाती हैं। एक प्रकार से प्राकृत-वाङ्मय की यह उपलब्ध अन्तिम रचना है। चौदहवीं शताब्दी के बाद में प्राकृत साहित्य की कोई रचना नहीं मिलती। इसमें हम्मीर बीर की शौर्य गाथा के उदाहरण हैं। अलाउद्दीन खिलजी के काल की रचना है। यह काल ऐसा है, जब भारत की आधुनिक भाषाओं का उद्भव हो रहा था। उद्भव तो 9वीं और 10वीं शताब्दी से आरम्भ हो गया था किन्तु आधुनिक भाषाओं का स्वतन्त्र अलगाव नहीं हुआ था। सब कुछ एक-दूसरी भाषाओं में मिश्रित थे। उनकी भौगोलिक सीमाओं का निर्धारण नहीं हुआ था और न ही उनके उद्भव के प्राचीन स्रोत ज्ञात थे। यह सारा काम बाद में हुआ है। संस्कृत भाषा ने भारत के अन्य भाषाओं के विकास में बाधा पहुँचाई है। उसने प्रधान रूप से प्राकृत-साहित्य की श्रेष्ठ रचनाओं को आत्मसात् कर लिया और स्वयं बलवान तथा शक्तिशाली हो गई। संस्कृत-साहित्य का सम्बन्ध (लोक-वाङ्मय से सीधा सम्बन्ध) उसके अपने इतिहास में किसी भी समय में नहीं रहा। वस्तुस्थिति यह है कि प्राकृत भाषा सदैव लोक भाषा रही है किन्तु उस भाषा को शास्त्रीय स्वरूप देने वाली भाषा संस्कृत रही है। इस तरह संस्कृत से आच्छादित रहने के कारण प्राकृत भाषा को भी अपना स्वरूप बदलने में विवश होना पड़ा है। और बाद में तो प्राकृत साहित्य, संस्कृत-साहित्य का अनुकरण करता प्रतीत होता है और डॉ. रामविलास शर्मा तो

* पूर्व प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, बाबा साहब अम्बेदकर विश्वविद्यालय।

प्राकृत भाषा को कृत्रिम भाषा कहने लगे थे। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के विचारों से अलगवाव का प्रधान कारण 'प्राकृत भाषा' है। बाद में तो उन्होंने प्राकृत-साहित्य का अध्ययन छोड़ दिया। अपनी दृष्टि संस्कृत-साहित्य के अध्ययन पर केन्द्रित रखी। कथा बहुत लम्बी है। प्रस्तुत में मुझे प्राकृतपैंगलम् के सम्बन्ध में लिखना है। उसे प्राकृत-साहित्य की सीमा मानते हुए और उसमें आधुनिक भाषाओं के उद्भव के पूर्व रूप निहित हैं, यह दिखलाना इष्ट है।

2

प्राकृतपैंगलम् का जो ग्रंथ मेरे पास है, उसका सम्पादन काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के भूतपूर्व प्रोफेसर डॉ. भोलाशंकर व्यास ने किया है। प्राकृत (भाषा) ग्रंथ परिषद वाराणसी-5 ने इसका प्रकाशन किया है। उक्त परिषद का यह दूसरा प्रकाशित ग्रंथ है। इस परिषद की शाखा अहमदाबाद (गुजरात) में भी है। इसका प्रकाशन 1959 ई. में हुआ। इसका दूसरा भाग 1962 ई. में प्रकाशित हुआ है। यह परिषद का चौथा प्रकाशित ग्रंथ है। दोनों ही भाग मैंने परिषद की अहमदाबाद शाखा से 1995 में खरीदे हैं। उस समय वे उपलब्ध थे। उस समय मेरी भेंट पं. दलसुख मालवणिया से हुई थी। दोनों भागों का परिचय अलग-अलग दे रहा हूँ।

3

प्रथम भाग 700 पृष्ठों का विशाल ग्रंथ है। इसमें आरंभ में प्रसिद्ध विद्वान् वासुदेवशरण अग्रवाल तथा पं. दलसुख मालवणिया का प्राक्कथन अंग्रेजी में है। बाद में स्वतंत्र प्राक्कथन प्रो. वासुदेव शरण अग्रवाल का ही है। अपनी प्रस्तावना में उन्होंने प्राकृतपैंगलम् की रचना का काल निर्धारण करते हुए, उसे 1310 ई. की रचना माना है। सम्पादक का निवेदन बाद में है। रचना प्रधान रूप से छंदशास्त्र की है। यह शास्त्रीय ग्रंथ है। प्रधान रूप से दो परिच्छेद हैं। प्रथम परिच्छेद मात्रावृत्त का 180 पृष्ठों का है। दूसरे परिच्छेद वर्णवृत्त का 181 से 311 पृष्ठों तक का है। मात्रावृत्त में 45 मात्रिक छंद हैं और दूसरे परिच्छेद में 105 छंद हैं। छंदों के लक्षण और उदाहरण हैं। $45 + 105 = 150$ छंदों में एक ही छंद के भेदों की संख्या मिली हुई नहीं है। यों तो संख्या में और भी अभिवृद्धि होगी। प्रत्येक छंद की टीका डॉ. भोलाशंकर व्यास ने दी है। इस टीका में ही प्रत्येक शब्द का व्युत्पत्तिमूलक अर्थ दिया है और प्राकृत को संस्कृत से (प्रारम्भ से चली आती परम्परा का अनुमोदन करते हुए) उद्भूत प्रमाणित किया है। मूल पाठ और उसकी टीका के बाद में ग्रंथ की तीन टीकाएँ संस्कृत में हैं। ये तीनों ही टीकाएँ तीन अलग-अलग परिशिष्टों में हैं। प्रथम परिशिष्ट में (पृ. 329 से पृ.371 तक) श्री रविकर की टीका है। परिशिष्ट दो में (पृ. 372 से पृ. 518 तक) श्री मद्रामभट्ट आत्मज लक्ष्मीनाथ भट्ट की टीका है। और परिशिष्ट तीन में (पृ. 519 से पृ. 638 तक) वंशीधर

कृत टीका है। शेष पृष्ठों में पृ. 700 तक पद्यानुक्रमणिका और अभिधान (शब्दकोश) है।

4

दूसरा भाग भी लगभग उतना ही विशाल है। इसमें भाषाशास्त्रीय और छन्दशास्त्रीय अनुशीलन है। इसके आरम्भ का प्राक्कथन, प्रोफेसर वासुदेव शरण अग्रवाल का ही लिखा हुआ है। प्रथम भाग डॉ. राजेन्द्र प्रसाद को समर्पित है और दूसरा भाग 'प्राकृत पैंगलम्' में उद्धृत अनेक अज्ञातनामा हिन्दी कवियों को जो हिन्दी भाषा और साहित्य की नींव के पत्थर हैंश्रद्धापूर्वक समर्पित है।

5

स्पष्ट है कि प्राकृतपैंगलम् विशुद्ध रूप में प्राकृत भाषा की रचना नहीं है। इसमें मात्र हिन्दी के अज्ञात कवियों के उदाहरण नहीं हैं। इसमें प्राकृत भाषा के विस्तृत भौगोलिक क्षेत्र की आधुनिक भाषाओं के पूर्व रूप भी हैं। प्राकृत भाषा से आधुनिक भाषाओं का उद्भव हुआ है। इस बात के संकेत इसमें मिल जाते हैं। इस ग्रंथ के आधार पर संस्कृत के साथ प्राकृत भाषा का सम्बन्ध आधुनिक भाषाओं से बतलाया जा सकता है।

6

रचना का नाम प्राकृतपैंगलम् है। रचयिता का नाम ग्रंथ के शीर्षक में नहीं है। और न ही रचयिता के सम्बन्ध में कुछ कहा गया है। पाणिनि की अष्टाध्यायी में आरम्भ में माहेश्वर के 14 सूत्र हैं। उन सूत्रों का निर्माण शिवजी के डमरू से हुआ है, ऐसा भी कहा गया है। और हम जानते हैं कि 14 सूत्रों के आधार पर व्याकरण के अन्य सूत्रों का निर्माण पाणिनि ने किया है। पाणिनि को ईश्वरी देन के रूप में ये सूत्र (अ इ उ ण् आदि सूत्र) प्राप्त हुए हैं। ठीक इसी तरह प्रस्तुत रचना के रचयिता का नाम ग्रंथ में जगह-जगह है। मूल पाठ में है और वह है *पिंगल*, पूरा नाम *नागराज पिंगल*, *नागराज पिंगलाचार्य* भी कहा गया है। कुछ उदाहरण

जो विविहमत्तसाअर पारं पत्तो वि विमलमइ हेलं।

पढम ब्भास तरंडो, णाओ सो पिंगलो जअइ ॥१॥ (गाथा)

अर्थात् 'जिन महर्षि *पिंगल* ने अपनी विमल बुद्धि से लीला के साथ विविध मात्राओं के सागर (छन्द : सागर) को पार किया तथा जो भाषा (अवहट्ट, अपभ्रंश) के प्रथम तरण्ड (नौका) हैं, उनकी जय हो' टीकाकारों ने इसका दूसरा अर्थ भी किया है 'उन *पिंगल मुनि* (शेषावतार) की जय हो, जिन्होंने गरुड़ (वि) की विमल बुद्धि को

अनादर से देखकर...’ इसका तीसरा व्यंग्यार्थ यह भी है ‘उस पोतवणिक् (पिंगल) की जय हो, जिसने विशिष्ट बुद्धि के कारण अनेक प्रकार के धन के साथ समुद्र को पार किया तथा जिसकी नौकाएँ धनादि से विभूषित (जाज्वल्यमान) हैं’ इस तरह यहाँ छन्दः शास्त्राचार्य *नागराज पिंगल* तथा पोतवणिक् का उपमानोपमेय भाव व्यंग्य है।

और बाद में डॉ. भोलाशंकर व्यास ने इन टीकाओं पर विस्तृत टिप्पणी भी लिखी है। शब्दों के व्युत्पत्तिमूलक अर्थ भी दिए हैं।

मूल बात यह है, कि आरम्भ में *नागराज पिंगल* का नाम है। इन्हें महर्षि कहा गया है और किसी ने मुनि कहा है। हम अनुभव करते हैं कि यह ‘पिंगल’ नाम छन्दशास्त्र ही नहीं अपितु काव्यशास्त्र का नाम भी बाद में प्रचलित हो गया है। हिन्दी साहित्य के रीतिकालीन ग्रंथों को जो लक्षण-लक्ष्य काव्य है, *पिंगल* ग्रंथ कहा गया है। ‘पिंगल’ शब्द का अर्थ काव्यशास्त्रीय ग्रंथ तो हुआ ही है, बाद में *पिंगल* शब्द भाषा से भी जुड़ा है। रीतिकालीन ग्रंथों की भाषा को (विशेष रूप से राजस्थान में) पिंगल भाषा कहा गया है। *पृथ्वीराज रासो* की रचना भाट ने की है, इसलिए उसे ‘पिंगल’ भाषा कहा है। इस तुलना में *चारणों की भाषा* को *डिंगल* भाषा कहा गया है। चारणों ने पिंगल भाषा की उपेक्षा की किन्तु अलगव को दर्शाने हेतु अपनी भाषा को *डिंगल* कहा है। राजस्थान की पूर्व दिशा में (मथुरा-आगरा के समीप में) ब्रजभाषा का प्रभाव अधिक है। ब्रज का भौगोलिक विस्तार राजस्थान में अधिक हुआ है। जयपुर के क्षेत्र को ढूँढाड़ा कहा गया है और भाषा ढूँढाड़ी है। किन्तु वहाँ की शास्त्रीय भाषा *पिंगल* ही है। ब्रज भाषा से प्रभावित राजस्थान की (पूर्व-प्रदेश की) भाषा पिंगल है। मरु प्रदेश की (पश्चिमी-प्रदेश की) भाषा डिंगल है। डिंगल भी पिंगल की तरह शास्त्रीय भाषा है और व्यवहार की भाषा मरु देश (रेगिस्तान होने का कारण) की भाषा मारवाड़ी है। उसका विस्तार जोधपुर, पाली, जैसलमेर तथा बीकानेर आदि है। *डिंगल* में लिखने वाले प्रधान रूप से चारण हैं। उनकी रचनाओं को पिंगल की रचनाओं सदृश प्रसिद्धि नहीं मिली। अस्तु।

7

छन्दःशास्त्र और स्वर

छन्दशास्त्र में स्वरों को प्रधानता दी जाती है। स्वर की मात्राओं के आधार पर छन्दों का नामकरण अलग-अलग होता है। यह हम सभी जानते हैं। छन्दों में हमारा ध्यान स्वरों की मात्राओं के क्रम पर रहता है और इसमें स्वरों की गणना भी होती है। *गणना वास्तव में मात्राओं की होती है।* क्रम और गणना के आधार पर छन्दों को पहचाना जा सकता है। स्वरों के कारण छन्द शास्त्र का सम्बन्ध संगीत से भी है। संगीत में स्वरों की लय को (आरोह, अवरोह को) प्रधानता प्राप्त है। गवैये जब गाते

हैं, तो उनका ध्यान उच्चारण की लय पर रहता है। इस सम्बन्ध में भर्तृहरि विरचित ‘वाक्यपदीय’ के द्वितीय कांड में लिखा है

शब्दानां क्रममात्रे च नान्यः शब्दोऽस्ति वाचकः।

क्रमो हि धर्मो काव्यस्य तेन वाक्यं न विद्यते॥50॥

× × ×

अनर्थ कान्युपायत्कल्पदार्थनार्थवन्ति वा।

क्रमेण उच्चारितान्याहुर्वा वाक्यार्थ भिन्नलक्षणम्॥55॥

अर्थात् वाक्य में शब्दों का क्रम मात्र (वाक्य के अर्थ के हेतु अभिधान) महत्त्वपूर्ण होता है। दूसरा कोई शब्द (वाक्य का) वाचक नहीं होता। क्रम ही काल का धर्म है और इसके अतिरिक्त वाक्य का कोई अस्तित्व ही नहीं है (50)। क्रम का उच्चारण ठीक न हो तो अनर्थ हो जाता है। क्रम ठीक हो तो वह अर्थवान बन जाता है। और इससे भिन्न कोई लक्षण नहीं। (55)

उच्चारण के आधार पर क्रम को प्राप्त किया जा सकता है। ‘किसन जी अजमेर गया’ में उच्चारण ठीक से (मात्रा क्रम से) न हो तो ‘किसन जी आज मर गया’ अर्थ का अनर्थ होगा। ‘अजमेर’ का आज मर (अनर्थ) हो गया? उच्चारण ठीक हो, वैसे श्रुति भी ठीक हो। उच्चारण क्रम और श्रुतिकर्म एक-दूसरे से जुड़े हैं।

8

प्रश्न है प्राकृतपैंगोलम् के लक्षण तो प्रायः प्राकृत भाषा के अनुरूप हैं किन्तु छंदों के उदाहरण बोलियों के हैं और इन उदाहरणों की पूरी पहचान हुई नहीं है। प्राकृत का भौगोलिक क्षेत्र उस समय तक व्यापक हो गया था। यह तो राजशेखर के समय में ही पहचान लिया गया था। भाषा तो एक है किन्तु उच्चारण एक नहीं है। इस बात को राजशेखर जानता था। वह यायावर था। अपनी यात्राओं में उसने उच्चारण-भेदों को पहचाना है और अपने ग्रंथ ‘काव्य-मीमांसा’ में इन सबका उल्लेख किया है। प्रधान रूप से उसका दसवाँ अध्याय कविचर्या और राजचर्या से सम्बन्धित है। उसके आधार पर लिख रहा हूँ

‘कवि, जब काव्यरचना से श्रान्त होकर मनोरंजन करना चाहे, उस समय उसके गृह-जन या भृत्य-गण उसकी आज्ञा के बिना न बोलेंचुप रहें या कवि का निवास-स्थान विजन में हो। उसके सेवक *अपभ्रंश-भाषा* बोलने में पटु हों, दासियाँ *मागधी* सहित भाषाओं में प्रवीण हों, घर की स्त्रियाँ *संस्कृत* एवं *प्राकृत* दोनों भाषाएँ बोल सकती हों और उसके मित्र सभी तथा भिन्न-भिन्न भाषाओं के अभिज्ञ होने चाहिए’... ‘नृपति अपने घरों में भाषाओं के नियम स्वयं ही चला सकते हैं। सुना जाता है कि *मगधदेश* के *राजा*

शिशुनाग ने अपने अन्तःपुर में ही यह नियम बना दिया था कि कठिनता से बोले जानेवाले आठ अक्षरों को छोड़कर भाषा का प्रयोग किया जाए। ये आठ अक्षर (ध्वनियों)ट्, ठ्, ड्, ढ्, श्, ष्, ह् और क्ष्वर्जित किये गए थे। ये भी सुना जाता है कि *मथुरा* में *कुविन्द* नामक राजा था, उसने भी अपने अन्तःपुर में ही इसी प्रकार कठिन अक्षरों का व्यवहार वर्जित कर दिया था। इसी प्रकार कुन्तल देश के राजा सातवाहन ने अपने अन्तःपुर में ही *प्राकृत* भाषा का प्रचार कर दिया था। उज्जयिनी के राजा *साहसाङ्क* का समस्त अन्तःपुर (रनिवास) *संस्कृत भाषामय* था।

और भी कहा है

‘गौड़ आदि देशों के कवि, संस्कृत में विशेष रुचि रखते हैं। *लाटदेश* निवासी *प्राकृतप्रिय* होते हैं। *मरुभूमि* (मारवाड़-राजपूताना) और *पंजाब* के कवि *अपभ्रंश-भाषा* में अधिक रुचि रखते हैं और टकार, ककार एवं झकार का प्रयोग अधिक मात्रा में करते हैं *अवन्तिका*, *पारियात्र* और *दशपुर* आदि प्रदेशों के कवि भूतभाषा या *पैशाची* भाषा का प्रयोग अधिक करते हैं और *मध्यदेश-निवासी* कवि *सभी भाषाओं* में समान रुचि रखते हैं।’

काव्य मीमांसा, दशमोऽध्यायः।

9

मैंने मूल संस्कृत पाठ न लिखकर उसका अर्थ मात्र दिया है। इस कथन से प्रदेश-भेद के आधार पर भाषा-भेद ही नहीं अपितु उच्चारण-भेद का भी ज्ञान होता है। इसको देखते हुए हमारा ध्यान ध्वनि-परिवर्तनों पर जाता है। प्राकृत भाषा को ध्वनि परिवर्तनों के आधार पर पहचाना जाता है। ध्वनि-परिवर्तन के भेदों का कारण भौगोलिक होता है और इस तथ्य की ओर आचार्यों ने ध्यान ही नहीं दिया है। व्याकरणों के पण्डित संस्कृत भाषा के ध्वनि-परिवर्तनों पर बिलकुल विचार नहीं करते। वे प्राकृतों के ध्वनि-परिवर्तनों पर विचार करते हैं और वह भी लौकिक संस्कृत को आधार मानकर।

10

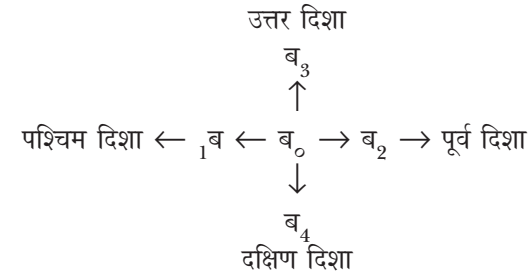
संस्कृत भाषा में *उच्चारण* पर बहुत ध्यान दिया जाता है। गुरुजी व्याकरण पढ़ाते हैं और उन्हें याद करानाबार-बार दोहरानाआवश्यक समझा जाता है। वैदिक संस्कृत में तो उच्चारण की विशेष व्यवस्था है। वैदिक संस्कृत की ध्वनि-व्यवस्था और लौकिक संस्कृत की ध्वनि-व्यवस्था में बहुत अन्तर हो गया है। पाणिनि की संस्कृतलौकिक संस्कृत है। संस्कृत में बोली रूप का व्यवहार वैदिक काल में रहा है। वैदिक वाणी बोलचाल में व्यवहृत होती रही है। वैदिक बोली का क्षेत्र पश्चिम भारत रहा है, प्रधान

रूप से वह क्षेत्र अब पाकिस्तान में है। भारत में पंजाब का क्षेत्र (जिसे पूर्वी पंजाब कहना चाहिए) और कश्मीर का पर्वतीय प्रदेश भी वैदिक बोली के क्षेत्र हैं। वैदिक बोली के समकालीन अन्य बोलियों में प्रधान *पैशाची* है। पैशाची का भौगोलिक विस्तार ईरान तक है और इसीलिए वैदिक वाणी ईरान तक बोली रूप में पहुँची है। ठीक इसी तरह वैदिक वाणी दक्षिण में समुद्र के किनारे के पश्चिमी भाग में केरल तक और बाद में सिंहल देश में पहुँची है। वैदिक वाणी उच्चारण-बद्ध हो गई और उसे सुरक्षित रखने के प्रयत्न होते रहे। लौकिक संस्कृत से अधिक वैदिक वाणी का भौगोलिक प्रचार-प्रसार दक्षिण भारत में ऋषियों ने किया है। ऋषियों के आश्रम दक्षिण भारत में भी थे। आचार्यों की परम्परा दक्षिण भारत में अधिक मिलती है। यह सब इसलिए लिख रहा हूँ कि भाषा के बोली रूपों को पहचाना जाए। दक्षिण में *पालि* भाषा वैदिक संस्कृत से लौकिक संस्कृत की तुलना में अधिक मेल रखती है।

11

वैदिक संस्कृत का व्यवहार करने वाले अन्य (अपने आसपास के भौगोलिक क्षेत्रों की भी) बोलियों का भी व्यवहार करते थे। इन सब को देखते हुए हमें *प्राकृत भाषा* पर गंभीरता से विचार करना चाहिए। कुछ महत्त्वपूर्ण बिन्दु लिख रहा हूँ

- (1) बोली से बोली और तदनुसार भाषा का उद्भव बतलाया जा सकता है।
- (2) भाषा से भाषा का उद्भव नहीं हो सकता।



‘ब’ से तात्पर्यबोली है। केन्द्र में ब (शून्य है) उद्भव स्थान है।

ब_1 से तात्पर्यपश्चिम की ओर बोली का विस्तार है। इसी तरह ब_2 से तात्पर्य बोली का पूर्व की ओर विस्तार है। तदनुसार ब_3 का उत्तर में और ब_4 का दक्षिण में भौगोलिक विस्तार है। हमें देखना यह है कि बोली का भौगोलिक विस्तार किस ओर हो रहा है। दूसरी ओर इस बात को भी परखने की आवश्यकता है कि बोली का भौगोलिक विस्तार भाषा रूप में किस दिशा में और क्यों हुआ? इसमें इतिहास सहायक है। यह इतिहास मात्र राजनीतिक इतिहास नहीं, अपितु उस इतिहास में भाषा का इतिहास भी है। संकेत रूप में 1,2,3,4बोलियों की संख्या एक-एक दी गई है किन्तु प्रत्येक दिशा में बोलियों की संख्या कम अधिक सम्भव है। *भाषा* रूप धारण करने से

पूर्व बोलियों के अनेक रूपों का समाहार भाषा में हो जाता है। इसे ठीक से पहचानने की आवश्यकता है। मुगल काल में *ब्रजभाषा* (ब्रज बोली) का विस्तार भारत की चारों दिशाओं में हुआ है। पश्चिम में पंजाब, राजस्थान गुजरात और महाराष्ट्र में हुआ है। इसी तरह पूर्व में बिहार की सीमाओं को लौंघकर, असम तक हुआ है। इतिहास में प्रमाणित है। अकबर के काल से औरंगजेब तक ब्रज भाषा प्रधान भाषा रही है। वाराणसी उसका केन्द्र पूर्व में था। *जगन्नाथदास रत्नाकर* ने उद्धवशतक की रचना वाराणसी में की। ब्रज भाषा के अध्यापक बंगाल में फोर्ट विलियम कालेज में (कलकत्ता में) नियुक्त थे इसी तरह ब्रज भाषा के पठन-पाठन के प्रशिक्षण केन्द्र गुजरात में थे। *आचार्य शुक्ल ने काव्य का अनुवाद (बुद्धचरित्र) ब्रजभाषा में किया है।* सच तो यह है कि आज ब्रजभाषा बोली रूप में चार जिलों में केन्द्रित हैंवे हैं मथुरा, आगरा, अलीगढ़, और एटा। ब्रज भाषा का भौगोलिक विस्तार पंजाब में औरंगजेब के समय तक था। गुरु गोविन्द सिंह की रचनाओं में ब्रज भाषा है।

12

ब्रजभाषा की तरह प्रत्येक बोली और उससे सम्बन्धित भाषा को इतिहास के आधार पर (भौगोलिक विस्तार को देखते हुए) पहचाना जा सकता है। *ब्रजभाषा* की तरह आज की हिन्दी भाषा का इतिहास भी पहचाना जा सकता है। ब्रजभाषा का स्थान *खड़ी बोली* ने (दिल्ली की) लिया। उसका भाषा रूप में संस्कार वाराणसी और इलाहाबाद में हुआ है। भारत के स्वतन्त्र होने तक हिन्दी वाराणसी-इलाहाबाद में केन्द्रित थी। दिल्ली वह अपने मूल स्थान पर 1947 ई. के बाद में पहुँची है। आज दिल्ली हिन्दी भाषा का केन्द्र है और उसका भौगोलिक विस्तार सब ओर हो गया है और हो रहा है। प्रश्न है मुगल काल में ब्रज भाषा क्यों? तो सीधा उत्तर हैराजधानी दिल्ली न होकर आगरा में थी। और औरंगजेब तक राजधानी आगरा ही रही है। सिकंदर लोदी दिल्ली छोड़कर आगरा। के किले में रहता था अकबर फतहपुर (सीकरी) में रहता था। शाहजहाँ ने ताजमहल आगरा में बनवाया और आगरा आ गया था। औरंगजेब तो औरंगाबाद में रहता था।...अस्तु।

13

इसी तरह हमें इतिहास में पीछे लौटकर *वैदिक संस्कृत* और *लौकिक संस्कृत* के बोली रूपों तथा भाषा रूपों को पहचानने की आवश्यकता है। वैदिक संस्कृत का एक केन्द्र विशेष (बोली रूप में) बतलाना कठिन होने पर भी उसका भाषा रूप में संस्कार पंजाब में हुआ है और उसका विस्तार कश्मीर तक है। हड़प्पा और मोहनजोदड़ो दोनों के केन्द्र पंजाब तथा सिन्ध में हैं। कश्मीर से पंजाब, सिंध, महाराष्ट्र, कर्नाटक, केरल होते हुए भारत के पश्चिमी (उत्तर से दक्षिण तक) क्षेत्रों में उसका भाषा रूप में भौगोलिक

विस्तार है। *वैदिक संस्कृत* के बोली रूपों से पश्चिमी क्षेत्रों की आधुनिक भाषाएँ प्रभावित हैं और इसे इन क्षेत्रों के भाषाविद् और पण्डित आचार्य मानते रहे हैं। मराठी का सीधा सम्बन्ध वैदिक बोली से है और इसी तरह ईरान तक पश्चिम में वैदिक बोली पहुँची है। *अवेस्ता* का सम्बन्ध वैदिक संस्कृत से है। विश्वनाथ काशीनाथ राजवाड़े ने '*संस्कृत भाषेचा उलगडा*' पुस्तक में (मराठी में) वैदिक संस्कृत के उद्भव की कथा लिखी है। वैदिक संस्कृत में उच्चारण प्रक्रिया संस्कृत की उच्चारण की प्रक्रिया से भिन्न है। वैदिक व्याकरण पाणिनि के व्याकरण से अलग है।

14

दक्षिण भारत में विजयनगर (हम्पी) साम्राज्य के आरम्भ के काल में आचार्य सायण और आचार्य माधवाचार्य हुए, जो वैदिक वाङ्मय से परिचित थे। डॉ. बलदेव उपाध्याय ने इन दोनों आचार्यों पर पुस्तक लिखी है। वैदिक भाषा से संस्कृत भाषा की भिन्नता को पहचाना जा सकता है किन्तु दोनों के अलगाव को बतलाने के लिए पुस्तकें नहीं लिखी गईं। वैदिक भाषा का सम्बन्ध बोली रूप में होने के कारण, उक्त बोली के भाषा रूप को भौगोलिक रूप में पहचाना भी गया है। उसके भाषा रूप में भौगोलिक प्रचार-प्रसार हुआ। ठीक वैसे ही संस्कृत के उद्भव स्थान को तो पहचाना जा सकता है किन्तु उसका बोली रूप पहचाना नहीं गया है। इतना तो प्रमाणित है कि संस्कृत पश्चिमी भारत की प्रधान भाषा है। वैदिक भाषा की परम्परा को संस्कृत ने जीवित रखा है। वैदिक संस्कृत की मूल थाती संस्कृत को उपलब्ध रही है। वैदिक भाषा से भिन्न संस्कृत भाषा को स्वतंत्र स्वरूप देने वाले महर्षि *पाणिनि* हैं। पाणिनि की संस्कृत की सारी शक्ति उसका व्याकरण है। वह स्वयं पाकिस्तान के पश्चिम में पेशावर के निकट के ग्राम शालातुर के निवासी थे। वे यायावर थे। उन्होंने भारत की यात्रा की थी। संस्कृत के भौगोलिक प्रचार-प्रसार को पहचाना था। इस पहचान को वासुदेव शरण अग्रवाल ने *पाणिनिकालीन भारत* पुस्तक में उजागर किया है। इसमें प्राकृत भाषा के भौगोलिक क्षेत्र का समाहर भी है। यह सब विस्तार भाषा रूप में हैबोली रूप में नहीं है। बोली रूप में प्राकृतों के विभिन्न रूप देश भर में प्रचलित थे। पाणिनि की संस्कृत बोली रूप में स्वयं पाणिनि के काल में किसी भी स्थान पर प्रचलित नहीं रही है। वैदिक संस्कृत का बोली रूप तो आज विलुप्त है किन्तु उसका भाषा रूप तो आज भी जीवित है और उसको जीवित रखने में संस्कृत सहायक रही है।

15

संस्कृत भाषा के शब्द भण्डार में विपुल अभिवृद्धि हुई है और इस अभिवृद्धि का कारण *प्राकृत भाषा* है। इस रूप को पहचानने के प्रयत्न नहीं हुए। मानने वाले पण्डित मानते हैं कि *संस्कृत भाषा* का मूल केन्द्र मध्य देश है। यह कौशाम्बी और उज्जयिनी का क्षेत्र

है। कालिदास *संस्कृत भाषा का* प्रसिद्ध कवि है, जिसमें संस्कृत भाषा के तेजस्वी, ललित और माधुर्य के सभी गुण हैं। उसका वाङ्मय स्वर्ग और इस लोक की कथाएँ कहने वाला है और समस्त भारत का भौगोलिक स्वरूप भी उसमें (रघुवंश में) उजागर है। यह सब होने पर भी कालिदास से पूर्व भी संस्कृत साहित्य की लम्बी परम्परा है। मुझे कहना यह है कि कालिदास के नाटकों में महिलाएँ प्राकृत बोलती हैं। संस्कृत का बोली रूप सामान्य जन-समुदाय में प्रचलित नहीं रहा। इस तुलना में प्राकृतों के बोली रूप प्रचलित रहे हैं। संस्कृत के बोली रूप में और प्राकृत के बोली रूपों में बहुत अन्तर है। संस्कृत केवल प्रशिक्षित लोग ही जानते हैं। प्राकृत का व्यवहार सब जगहजन सामान्य मेंशिक्षित-अशिक्षित जनता में होता रहा है। इस तथ्य को गौतम बुद्ध तथा भगवान महावीर ने पहचाना था। वे प्राकृतों का व्यवहार करते थे।

16

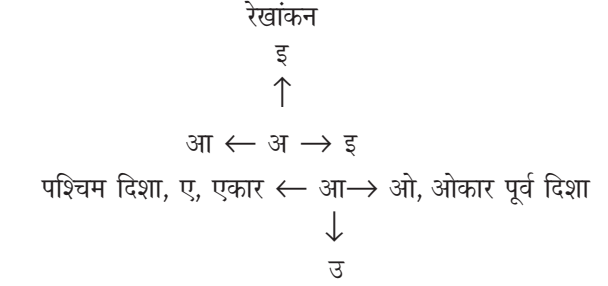
हमें यह मानना होगा कि संस्कृत भाषा से प्राकृत भाषा का उद्भव नहीं हुआ। इसके विपरीत यह मानना अधिक ठीक होगा कि प्राकृतों की पश्चिमी प्रदेश की बोली विशेष से वैदिक संस्कृत का उद्भव हुआ। वैदिक भाषा संस्कृत से प्राचीन है और उसका सम्बन्ध बोली विशेष से है। संस्कृत भाषा अपने उद्भव काल में (पाणिनि के समय में ही) भाषा रूप में पहचानी गई है। उसका बोली रूप कहीं भी प्रचलित नहीं रहा है। इस तथ्य को स्वीकार करने पर भाषाओं के इतिहास के सारे पृष्ठ बदल जाते हैं। इतिहास में प्रचलित इस धारणा को दूर करने का प्रयास होता रहा है किन्तु उसकी उपेक्षा होती रही है और आज भी जारी है। हिन्दी में अकेले *पं. किशोरी दास वाजपेयी* हुए जो हिन्दी का उद्भव संस्कृत से न मानकर प्राकृतों के बोली रूपों से मानते हैं। उनका *शब्दानुशासन* इसका प्रमाण है। *पं. किशोरी दास वाजपेयी* को समर्थन देने वालों में हिन्दी के दो प्रसिद्ध विद्वान् हैं। वे हैं 1. राहुल सांकृत्यायन तथा 2. डॉ. रामविलास शर्मा। मराठी में भी दो प्रसिद्ध विद्वान् हैं *विश्वनाथ काशीनाथ राजवाड़े* और *पं. श्रीधर व्यंकटेश केतकर*। स्वयं मराठी भाषा में इन दोनों को भाषाविद् के रूप में मान्यता नहीं मिली है। उनकी प्रसिद्धि के कारण इतिहास और समाजशास्त्र हैं। हिन्दी में डॉ. धीरेन्द्र वर्मा का नाम आज भी चलता है, जो लौकिक संस्कृत से हिन्दी का उद्भव मानते हैं।

17

स्वरो की प्रवृत्तियाँ

उच्चारण में स्वर सब से अधिक सहायक होते हैं। प्रत्येक भाषा में स्वरो के उच्चारण की प्रवृत्ति अलग-अलग होती है। भारत की भाषाओं में भौगोलिक दृष्टि से

आधुनिक भाषाओं की प्रवृत्तियाँ अलग-अलग हैं। इन प्रवृत्तियों को पहचानने का काम डॉ. रामविलास शर्मा ने किया है। यद्यपि उन्होंने अपनी मान्यताओं को नक्शे में (बहुत संक्षेप में) या रेखांकन में प्रस्तुत नहीं किया किन्तु उनके लेखन में यह सब सोदाहरण है। तदनुसार रेखांकन इस प्रकार हो सकता है। इनसे उच्चारण की प्रवृत्तियों का बोध होता है। इन्हें नियम न माना जाए।



इस रेखांकन में संस्कृत के स्वर की अपेक्षा प्राकृत और आधुनिक भाषाओं (तदनुसार बोलियों) की प्रवृत्तियाँ प्रधान हैं। वैदिक स्वरो से संस्कृत के स्वर अलग हैं और आधुनिक बोलियों के स्वर अलग हैं। इन स्वरो में ह्रस्व स्वर 'अ इ उ' प्रधान स्वर हैं। इनमें ए और ओ के ह्रस्व स्वर अलग हैं। 'आ' का ह्रस्व स्वर अलग है। अ, आ दोनों ह्रस्व स्वरो की तरह उच्चरित होते हैं। ए और ओके तीन-तीन ह्रस्व स्वर हिन्दी की बोलियों में (विशेष रूप से ब्रजभाषा में) डॉ. धीरेन्द्र वर्मा ने अपनी *हिन्दी भाषा के इतिहास* में पहचाने हैं।

18

डॉ. रामविलास शर्मा लिखते हैं :

“हिन्दी प्रदेश के पूर्वी अंचल में *अकार* का उच्चारण *ऑकार*वत होता है। बंगाल और असम प्रदेशों में स्वर का गोलाकार रूप और भी स्पष्ट हो जाता है। डॉ. सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या ने *बंगला भाषा के उद्भव और विकास* पुस्तक में बताया है कि अन्य स्वरो को सिखाते समय ह्रस्व 'इ', दीर्घ 'ई' ह्रस्व 'उ', दीर्घ 'ऊ' का क्रम चलता है, किन्तु दीर्घ आ के साथ ह्रस्व 'अ' नहीं सिखाया जाता, 'ऑकार' सिखाया जाता है।”

भारत के प्राचीन भाषा परिवार और हिन्दी,

डॉ. रामविलास शर्मा, प्रथम संस्करण, 1980 ई., पृ.87-88।

यह तो पूर्व की स्थिति है। पश्चिम में मराठी भाषा में एकार 'ए' प्रधान है। व्यक्तिवाचक संज्ञाओं के अन्त में एकार मिलते हैं। पुणे (नगर का नाम)/ठाणे (नगर का नाम)/वारलिंगे।/पाध्ये/विर्धे/ काले/गोरे/हिरे/कपाले/पोट दुखे/तावड़े (व्यक्तियों

के नाम)। यही नहीं क्रिया के रूपों में उठणे/बसणे/निहिणे/पाहणे/हिन्दी में उठना/बैठना/लिखना/देखना आदि रूप आकारान्त हैं। मराठी एकारान्त है।

आगे डॉ. रामविलास शर्मा ने ऊपर के क्रम को जारी रखते हुए लिखा है

“हिन्दी प्रदेश के उत्तरी भाग, मेरठ, हरियाणा आदि में एकारवादी प्रवृत्ति है। द्रविड़ भाषाओं का जो गहरा सम्बन्ध उत्तर-पश्चिमी प्रदेशों की गण भाषाओं से रहा है, उसका एक प्रमाण द्रविड़ भाषाओं में अकार-एकार वाले वैकल्पिक रूपों की प्रचुरता है। कभी ये रूप एक ही भाषा में हैं, कभी भिन्न भाषाओं में। (कई उदाहरण दिए गए हैं)... जब तक कोई भाषा-विज्ञानी यह निश्चित न कर दे कि इन वैकल्पिक रूपों में ध्वनि परिवर्तन किन अटल नियमों के अनुसार होता है, तब तक यही मानना चाहिए कि भिन्न गण भाषाओं में भिन्न स्वर प्रवृत्तियाँ रही हैं और उनके परस्पर सम्पर्क के कारण वैकल्पिक रूपों का चलन हुआ है।... ..एकारवादी प्रवृत्ति द्रविड़ भाषाओं के दक्षिणी समुदाय में अधिक है। इस समुदाय में तोद भाषा अपवाद रूप हैं वह अनेक बातों में दक्षिण की अन्य भाषाओं से भिन्न है, इन बातों में उसकी ओकारवादी प्रवृत्ति भी है। मध्यवर्ती समुदाय में अकारवाले रूप प्रतिरूप अधिक हैं किन्तु एकारवाले रूप उनसे घुलते-मिलते दिखाई देते हैं। जिन शब्दों के आदि वर्ण में अकार अथवा एकार है, उनके ओकार वाले प्रतिरूपों की संख्या कम है (कई उदाहरण दिए गए हैं)... .. द्रविड़ भाषाओं में आदिस्थानीय तालव्य व्यंजन के साथ बहुधा एकार का उच्चारण होता है। कन्नड़ भाषा में कहा गया है कि इसके उत्तरी क्षेत्र में ब्राह्मण लोग एकारवादी हैं और अब्राह्मण अकारवादी (उदाहरण हैं)... .. इस बात को ध्यान में रखने से इस तथ्य का ज्ञान होता है कि द्रविड़ भाषाओं का और कम-से-कम कन्नड़ भाषा का ध्वनितंत्र अकारवादी है। अकारवादी ध्वनि तंत्र एकार-ओकारवादी प्रवृत्तियों से प्रभावित हुआ जान पड़ता है।”

वही पुस्तक, पृ. 88-89-90 से,

और संस्कृत भाषा के सम्बन्ध में उन्होंने लिखा

“संस्कृत मूलतः मध्यदेश की भाषा है। वैदिक काल में वह उत्तर पश्चिमी क्षेत्र की भाषाओं से बहुत प्रभावित हुई है। फिर भी उत्तर-पश्चिमी एकारवादी प्रवृत्ति उसे उतना प्रभावित नहीं कर सकी जितना द्रविड़ भाषाओं को। ग्रीक और लैटिन में इस एकारवादी प्रवृत्ति की प्रबलता हो तो आश्चर्य की बात न होगी। जैसे सघोष महाप्राण ध्वनियाँ ग्रीक और लैटिन में भिन्न रूपों में ग्रहण की जाती हैं, वैसे ही उनके साथ चलने वाले भारतीय स्वर भी भिन्न रूपों में ग्रहण किए जाते हैं। इस प्रकार समूचे भाषाई परिवेश पर जो प्रपंच पहले अकारण जान पड़ता था, वह अब सकारण प्रतीत होने लगता है।”

वही, पृ. 100

और निष्कर्ष रूप में लिखा है

“यहाँ (भारत में) तीन केन्द्रों में तीन स्वरो का विकास हुआ। उत्तर पश्चिम में एकार, पूर्व में ओकार और इन दोनों के बीच अकार। यह स्थिति मेरठ, लखनऊ और पटना की बोलियों को सुनने से आज भी पहचानी जा सकती है। ये अत्यन्त प्राचीन स्वर पद्धतियाँ आर्य द्रविड़ भाषाओं में वैकल्पिक रूपों के लिए मुख्यतः उत्तरदायी हैं। द्रविड़ भाषाएँ भारत के उत्तर-पश्चिम में बोली जाती थीं। उस प्रदेश से होकर जिन भारतीय भाषा तत्त्वों का निर्यात हुआ है, वे अपने साथ द्रविड़ भाषाओं की विशेषताओं के साथ वैकल्पिक रूपों की निर्माण प्रक्रिया भी ले गये। वैकल्पिक रूप संस्कृत में है और संस्कृत परिवार की आधुनिक भाषाओं में, यह स्मरण रखना चाहिए।”

वही, पृ. 100

यहाँ मैं एक बात स्पष्ट करना चाहूँगा कि डॉ. रामविलास शर्मा ने प्राकृत भाषा और प्राकृत के ग्रंथों का अध्ययन नहीं किया। अन्यथा उनके निष्कर्षों में और भी निखार होता।

19

पाणिनि ने संस्कृत भाषा को जो रूप प्रदान किया वह अपने आप में अद्वितीय है। विभिन्न प्रचलित रूपों को एकरूपता प्रदान करना और उनके नियमों को सूत्रबद्ध करना सरल कार्य नहीं है। वैदिक भाषा में भी वह एकरूपता नहीं है। वैदिक भाषा में वैकल्पिक रूपों के लिए विवाद हुए हैं। स्वयं चारों वेदों की भाषा में एकरूपता नहीं है। ये सब भिन्न-भिन्न स्थानों पर और काल के अन्तराल से लिखे गए हैं और उन्हें स्मृतियों के बल पर लेखबद्ध होने से पूर्व सुरक्षित रखा गया है। उन्हें नगरों में रहकर नहीं सिखाया जाता। उनके लिए नगरों से बाहर गुरुकुलों में, आश्रमों में रहकर सीखना पड़ता है। ऐसी स्थिति से मुक्त कर संस्कृत को स्थिरता प्रदान करने का काम पाणिनि ने किया। पाणिनि की भाषा को स्थान विशेष से जोड़कर नहीं देखा जा सकता। वह सार्वदेशिक है, सार्वकालिक है और अपने आप में सनातन है। वह व्यावहारिक बोली में व्यवहृत भाषा नहीं हो सकती। पाणिनि के समय में भी, वह व्यावहारिक भाषा नहीं थी। संस्कृत भाषा ने अन्य भाषाओं से शब्द-ग्रहण किये और उनको अपने रूपों के अनुसार ढाल लिया और इसे हम संस्कृतीकरण कह सकते हैं। और यह संस्कृतीकरण प्राकृत भाषाओं का जितना हुआ है, उतना और किसी दूसरी भाषा से नहीं हुआ। और फिर पाणिनि ने जो स्वरूप संस्कृत भाषा को प्रदान किया, ठीक वैसा ही स्वरूप हेमचन्द्र ने गुजरात में प्राकृत का व्याकरण लिखकर किया। उसने महाराष्ट्री प्राकृत को महत्त्वपूर्ण माना। संस्कृत व्याकरण को ध्यान में रखते हुए आचार्य हेमचंद्र ने

‘हैमशब्दानुशासन’ के अन्तिम और आठवें अध्याय में प्राकृत व्याकरण ग्रंथ लिखा है। यह आठवाँ अध्याय भी विशाल है। उसकी व्याख्या तथा टीका ज्ञान मुनि ने की है। उक्त व्याकरण का स्वतंत्र प्रकाशन आचार्य श्री आत्माराम जैन माडल स्कूल कमला नगर, 29 डी, दिल्ली द्वारा हुआ है। प्रकाशन 1974 ई. में हुआ है। पंजाबी विश्वविद्यालय पटियाला के डॉ. एल. एम. जोशी तथा डॉ. अतुलनाथ सिन्हा ने प्रस्तावना में लिखा है

“जैन महाराष्ट्री का ही विकसित रूप महाराष्ट्री है। व्यंजन-लोप की प्रवृत्ति महाराष्ट्री में अधिक है। इसलिए इसे स्वर बहुला भाषा भी कहा जाता है। स्वर के आधिक्य के कारण यह काव्य और गीति की भाषा बनी। प्रवरसेन कृत ‘सेतुबन्ध’ तथा वाक्पतिराज कृत ‘गुडवहो’ इस भाषा के उत्कृष्ट महाकाव्य हैं। गीति के क्षेत्र में महाराष्ट्री को साहित्यकारों ने काफी ऊँचा स्थान दिया। यही कारण है कि कालिदासेतर नाटकों के पद्य भाग में महाराष्ट्री की प्रवृत्तियाँ मिलती हैं। हेमचन्द्र कृत कुमारपाल चरितम् एक द्वयाश्रय काव्य है जो इसी भाषा में रचा गया। कोहल ने भी ‘लीलावई’ नामक महाकाव्य की रचना महाराष्ट्री प्राकृत में की। हाल की ‘गाहासतसई’ महाराष्ट्री प्राकृत का ही एक उत्कृष्ट मुक्तक काव्य है।” प्रस्तावना, पृ. ‘ड’।

महाराष्ट्री का यह व्याकरण-ग्रंथ (आठवाँ अध्याय) संस्कृत भाषा में लिखा गया है। उदाहरणनियम या सूत्र कह लीजिए (पाणिनि की पद्धति के)सब संस्कृत में है। संस्कृत भाषा को माध्यम मानकर यह व्याकरण ग्रंथ लिखा गया है। इसके कारण स्वयं प्राकृत भाषा भी संस्कृत की तरह लोक की भाषा से दूर हो गई। संस्कृत सदृश, प्राकृत भाषा हो गई। यों कहिए कि पहले संस्कृत सीखिए और बाद में प्राकृत तदनुसार सीखिए। संस्कृत को मूल मानकर, संस्कृत माध्यम से यह व्याकरण-ग्रन्थ लिखा गया है। इससे प्राकृत भाषा भी संस्कृत की तरह व्याकरणबद्ध हो गई है। महाराष्ट्री से अलग जो प्राकृत के अन्य रूप हैं, वे प्राचीन हैं और उन्हें लोकभाषा कहा जा सकता है। ‘कुमारपाल चरितम्’ काव्य में स्वयं हेमचन्द्र ने प्राकृत के अन्य रूप भी बतलाए हैंसातवें सर्ग के छंद क्रमांक 92 के अन्त में लिखा हैइति प्राकृत भाषा समाप्ता॥अर्थात् महाराष्ट्री भाषा में लिखना समाप्त। आठ सर्गों में लिखे काव्य में, सात सर्ग महाराष्ट्री के हैं। उक्त सर्ग के ही अन्तिम शेष ॥102॥ तक के छंद (॥ 93 ॥ से ॥ 102 ॥ तक के दस छंद) शौरसेनी के हैं। इसके बाद सातवाँ सर्ग समाप्त हो जाता है। आठवाँ सर्ग मागधी से शुरू होता है। इसके पाँच छंद ही हैं (एक से पाँच तक)। अन्त में लिखा है। इति मागधी भाषा समाप्ता ॥ छठे से ग्यारहवें छंद तक के 6 छंद पैशाची भाषा के हैं। अन्त में लिखा है ॥ इति पैशाची भाषा समाप्ता॥ बारहवें से 13 वें तक के दोनों छंद चूलिका पैशाची के हैं। और अन्त के 14 वें से 83 तक के समस्त छंद अपभ्रंश के दिए गए हैं। और लिखा है

“प्राकृतादि भाषा कार्याणाम् अन्योन्यं तेषु तेषु प्रागुदाहरणेषु विनिमयो दर्शितः। स च न सूत्रं विना सिध्यति। अतः विनिमयेति पदेन पर्यायान्तरेण ‘व्याययश्च’ (447) इति सूत्रं विनिमयार्थम् उक्तं। उरसि। “शेषं संस्कृतवत् सिद्धम्” (448) शेषम् यद् अत्र प्राकृतादि भाषासु अष्टमाध्याये नोक्तं तत् सप्तमाध्यायी निबद्ध संस्कृतवदेव सिद्धम्। अतः यथा उरस् शब्दस्य ड्याम् उरे उरम्भि भवतः तथा क्वचिद् एतदपीति। एवं अन्योदाहरणे ष्वपि रूप विशेषे ज्ञेयः।

इति समाप्त

इत्याचार्य भी हेमचंद्र विरचित श्री कुमारपाल चरित प्राकृत द्वयाश्रय-महाकाव्य वृत्तौ

॥ अष्टमः सर्गः समाप्तः ॥

छंद संख्याओं से भिन्न टिप्पण संख्याएँ हैं। इन टिप्पणों में व्याकरणिक सूत्रों के संदर्भ देते हुए शब्द की व्याख्या की गई है। सब कुछ संस्कृत की पद्धति से लिखा गया है। हेमचंद्र ने सब कुछ सूत्रबद्ध करने का प्रयत्न किया है और सब महाराष्ट्री में है। प्राकृत भाषा महाराष्ट्री का पर्याय हो गयी है। अन्य रूपों के नाम मात्र लिखे गए हैं। कुछ छंद अन्त में हैं किन्तु उनको सूत्र-बद्ध करना आवश्यक नहीं समझा। अन्य रूपों में शौरसेनी, मागधी तथा पैशाची हैं। पैशाची का एक भेद चूलिका पैशाची है। अर्द्धमागधी का समाहार प्राकृत में कर दिया गया है। उसे अलग नहीं माना है। विमलसूरि का ‘पउमचरिउ’ अर्द्धमागधी का ग्रंथ है किन्तु उसे जैन महाराष्ट्री कहा गया है और उसी का विकास महाराष्ट्री में हुआ है।

20

अनुवाद : प्राकृत से संस्कृत में

क्या यह आश्चर्य की बात नहीं कि अनुवाद वास्तव में प्राकृत से संस्कृत में हुए। इसका तात्पर्य अनुवाद करने वालों ने प्राकृत को महत्त्वपूर्ण माना है और उन ग्रंथों का अनुवाद कर अपनी भाषा को समृद्ध किया है। अभिव्यक्ति प्रधान रूप से प्राकृत भाषा में हुई है और उसी में मूल कथन है। अनुवाद जब भी होता है तो मूल की अभिव्यक्ति को प्रधान माना जाता है। यह विचार करने की बात है कि संस्कृत यदि मूल है तो उसमें अनुवाद करने की आवश्यकता क्यों हुई? इसी ‘प्राकृतपैंगलम्’ ग्रंथ को देखिए। इसकी तीन टीकाएँ संस्कृत में लिखी गई हैं। एक ही ग्रंथ की तीन टीकाएँ संस्कृत में क्यों? टीकाएँ तो और भी लिखी गई हैं किन्तु तीन टीकाएँ संस्कृत में स्तरीय होने के कारण और उपलब्ध होने के कारण परिशिष्ट में दी गई हैं। टीकाएँ

एक अनुवाद का प्रकार हैं। गुणादय की *बृहत्कथा सागर* के तो पद्यबद्ध संस्कृत अनुवाद मिलते हैं। अनुवाद और भी हैं और तीन तो बहुत प्रसिद्ध हैं। हाल की *गाहा सत्तसई* के संस्कृत अनुवाद छंदोबद्ध उपलब्ध हैं। ऐसा लगता है कि प्राकृत, संस्कृत दोनों भाषाएँ एक-दूसरे की छाया हैं, सब कुछ बिम्ब-प्रतिबिम्ब है। प्राकृत के (अर्थात् महाराष्ट्री के) साहित्यिक ग्रंथों के अनुवाद संस्कृत में अधिक हुए। बौद्ध धर्म या जैन धर्म के ग्रंथों के अनुवाद भी संस्कृत में उस परिमाण में नहीं हैं, फिर भी उपलब्ध हैं। चीन में बौद्ध धर्म के जो ग्रंथ पहुँचे हैं, वे संस्कृत अनुवाद के ग्रंथ हैं। फाहियान की यात्रा विवरणों से इस बात का ज्ञान होता है। आगमों की भाषा अर्द्धमागधी है, उनके सम्पादित ग्रंथ अब प्रकाशित हो गए हैं और प्राकृत को आगमों की भाषा अर्द्धमागधी को संस्कृत में भी छंदोबद्ध लिखा गया है। प्राकृत भाषा के संस्कृत में इतने अनुवाद हुए टीकाएँ लिखी गई कि आज तो प्राकृत सीखना संस्कृत पर निर्भर हो गया है और विशाल स्तर पर यह काम जोड़ने का व्याकरण लिखकर हेमचंद्र ने किया है। इस अर्थ में आचार्य हेमचंद्र *प्राकृत भाषा के पाणिनि हो गये हैं*। और आज तो हेमचंद्र को पढ़ने के बाद *प्राकृत को मूल मानना* कठिन हो गया है। वस्तुस्थिति यह है कि संस्कृत से प्राकृत भाषा आच्छादित हो गई है।

21

संस्कृत साहित्य के रचयिताओं ने आरम्भ से ही माना है कि संस्कृत भाषा सब के लिए नहीं है। उनकी महिलाएँ भी सब संस्कृत का व्यवहार नहीं कर पातीं। संस्कृत की तुलना में, आरम्भ में प्राकृत का व्यवहार करती हैं। संस्कृत जानने वाला प्राकृत जानता प्रतीत होता है किन्तु प्राकृत जानने वाला संस्कृत नहीं जानता था। प्राकृतों के विविध रूप एक ही काल में सर्वत्र एक नहीं थे। उनका व्यवहार विविध रूपों में होते रहने के कारण उनमें परिवर्तन होते रहे हैं। इसलिए उनके देशगत भौगोलिक नामकरण स्वयं संस्कृत के आचार्यों ने किये। प्राकृत स्वर बहुला भाषा है। इस नाते उसमें संगीत है। महाराष्ट्री प्राकृत को भी संस्कृत की तरह बनाने के प्रयत्न ने प्राकृत को भी (विशेष रूप से महाराष्ट्री को) संस्कृत की तरह लोक व्यवहार की भाषा नहीं रखा। इससे हेमचंद्र को कठिनाई का सामना करना पड़ा। हेमचंद्र के बाद में दो शतकों से प्राकृत पेंगलम् की रचना हुई है। चाहे न चाहे तब तक तो प्राकृतों ने अपना पुराना बोलचाल का स्वरूप खो दिया था और विविध बोलियों का प्रचलन हो गया था। स्वयं हेमचंद्र ने अपभ्रंश भाषा को प्रचलित रूप में अनुभव किया है और प्रचलित प्राकृत को संस्कृत को प्रतिमान मान कर उसे *अपभ्रंश* कहा है। संस्कृत ने प्राकृत को अपभ्रंश नहीं कहा किन्तु उससे विकसित नये रूप को अपभ्रंश कहा। 9वीं शताब्दी से अपभ्रंशों का प्रचलन हो गया था और उसके दो मुख्य नाम प्रचलित हो गए थे। पूर्व में अपभ्रंश को

अवहट्ट कहा जाने लगा और पश्चिम में अपभ्रंश कहा जाने लगा। और फिर उन नामों के साथ प्राकृतों के भौगोलिक नाम भी जोड़े गए और यह सब कार्य प्रधान रूप से *प्राकृत पेंगलम्* की रचना से पूर्व हो गया है। प्राकृत पेंगलम् में ये सब विविध रूप मिलते हैं। *प्राकृत पेंगलम्* में मात्र प्राकृत भाषा नहीं है, उसके उदाहरणों में प्राकृत भाषा के साथ-साथ अपभ्रंशों के तथा अवहट्टों के उदाहरण भी हैं। मात्रिक छंद 45 हैं और वार्णिक छंद 105 हैं। कुल 150 छंद हैं। उदाहरणों में एकरूपता नहीं है और वे उदाहरण प्राकृतों के भौगोलिक विस्तार को ज्ञापित करते हैं।

22

मैंने प्राकृत भाषा को पहचानने हेतु स्वरों की प्रवृत्तियों को हेमचंद्र के व्याकरण ग्रंथ के अभिधान से, स्वरों के युग्मों को अलग किया और उनकी संख्याओं को जानना चाहा तो उनकी संख्या मुझे 78 मिली है। इन 78 प्रवृत्तियों में 57 तो दो स्वरों के समूहों की हैं। संस्कृत की दृष्टि से 8 मूल स्वर प्रथम, और 8 मूल स्वर द्वितीय लेने पर उनके 64 रूप हो जाते हैं। इन 64 रूपों में 57 तो मुझे खोजने पर मिल गये, 7 युग्म नहीं मिले। दो से अधिक स्वर-समूह के 21 रूप मिले हैं। इस तरह $57 + 21 = 78$ होते हैं। सभी के उदाहरण मैंने दिये हैं। देखिए : मेरी पुस्तक '*भारत की भाषाएँ*', पृ. 281 से 286 तक। पुस्तक का प्रकाशन 1995 ई. में हुआ, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली-110002, और फिर इन प्रवृत्तियों में ए, ओ के ह्रस्व रूप प्राकृतों में पाए जाते हैं, वे सम्मिलित नहीं हैं। धीरेन्द्र वर्मा ने हिन्दी भाषा के इतिहास में 8 मूल स्वरों के स्थान पर बोलियों के स्वरों को सम्मिलित करते हुए उनकी संख्या 16 बतलाई है। वस्तुतः $8 \times 8 = 64$ के स्थान पर $16 \times 16 = 256$ की संभावना है। उन सब को खोजना होगा। छंदों में उन सब को लिखना आवश्यक है किन्तु लिपि में बतलाया नहीं जा सकता। व्यवहार में स्वर-बाहुल्य रहता है। बोलियों में आज भी ये प्रचलित हैं। पं. काशीराम शर्मा ने '*रतनरासो*' का सम्पादन किया। वह *डिंगल* की रचना है। उसके उच्चारण के लिए उन्होंने विशेष-विशेष ध्वनि-चिह्नों की व्यवस्था दी। उन ध्वनि-चिह्नों को (जिनमें स्वरों की प्रवृत्तियों के चिह्न थे) छापना प्रकाशक के लिए संभव नहीं हुआ। उसकी भूमिका छप गई। मूल-पाठ छपा ही नहीं। वेदों के उच्चारण के लिए तो ध्वनियों के (विशेष रूप से स्वरों के) उच्चारण-चिह्न बने हुए हैं। उदात्त, अनुदात्त और स्वरित को पहचाना जाता है और उनका पाठ (वाचन) पढ़ाया जाता है। मौन पठन से यह संभव नहीं। इसलिए *विद्या कंठ में* कहा गया है।

23

आधुनिक भाषाओं के इतिहास में प्राकृतों के योगदान को पहचानने के प्रयत्न न के बराबर हुए हैं। संस्कृत भाषा को मूल मान लेना, यह सब से बड़ा दोष है। संस्कृत

प्राकृतों के आधार पर उपजी, फूली, फली और पल्लवित हुई और सब से अधिक समृद्ध हुई। उसकी समृद्धि और संपन्नता में भी प्राकृतों का योगदान है। संस्कृत की तुलना में प्राकृतों के रूप भारत-भूमि से अधिक जुड़े हुए हैं। स्वयं संस्कृत को भारत-भूमि से जोड़ने का काम प्राकृतों ने किया है। संस्कृत जितनी उत्तर की भाषाओं से जुड़ी हुई है, उतनी ही दक्षिण से भी जुड़ी हुई है और प्राकृतों के विद्वान जानते हैं कि प्राकृतों के विविध भौगोलिक रूप दक्षिण में भी प्रचलित थे। प्राकृतों को संस्कृत समूह की भाषा मानकर उसे उत्तर की भाषा मान लिया गया और काल्डवेल (पादरी) ने द्रविड़ भाषाओं को संस्कृत से अलग कर दिया। अंग्रेजी का प्रचलन दक्षिण भारत में समुद्र के तटों के प्रदेशों में सब से अधिक हुआ है और हमारी आधुनिक भाषाओं को पहचानने का काम विदेशी विद्वानों ने अधिक किया। भारत के ऐतिहासिक भाषा विज्ञान के काम को विदेशी विद्वानों ने अधिक किया है। आज भी भारत की भाषाओं का परिचय अंग्रेजी पुस्तकों में जितना अधिक उपलब्ध है, उतना स्वयं भारत की भाषाओं में नहीं है। इस तथ्य को डॉ. रामविलास शर्मा खूब जानते थे। इसीलिए अपने बाद के जीवन में अपना ध्यान भारतीय भाषाओं के अध्ययन पर केन्द्रित किया और विदेशी भ्रान्त धारणाओं का खण्डन किया। उनकी अभिरुचियों में लोक भाषाएँ अधिक रही हैं। लोक भाषाओं के आधार पर उन्होंने भारत भूमि को पहचानने का प्रयत्न किया। उन्होंने मुझे बतलाया कि अकेले में वे लोक भाषा के संगीत को अधिक सुनते हैं। रात्रि में सोने से पूर्व वे लोक संगीत की धुनों पर रीझते थे और स्वर तथा लय को पहचानने की कोशिश करते। यह देखा गया कि लोक संगीत में सामूहिक गान अधिक होता है और उसमें समाज एकत्रित रूप में रहता है। उसे लिपिबद्ध करना कठिन है। लिपिबद्ध भाषाओं में उसे लिखना बहुत कठिन है। उन अभिव्यक्तियों में सामूहिक भाव विद्यमान रहते हैं। उनमें व्यंजन कम और स्वर अधिक रहते हैं। वे बोलियों के उच्चारण पर ध्यान रखते थे और यात्रा-काल में परिवर्तित रूपों को पहचानने का प्रयत्न करते थे। यह ठीक है कि उन्होंने प्राकृत भाषाओं का अध्ययन नहीं किया। कारण यह भी रहा कि प्राकृतों के उदाहरण उन्होंने सुने नहीं। मैंने स्वयं प्राकृतों के रूप सुनने चाहे हैं किन्तु कम अवसर मिले। संस्कृत के अवसर अधिक मिले। बिना श्रवण के किसी भाषा को ठीक से सीखना, पहचानना कठिन ही होता है।

24

प्राकृतों का प्रिय छंद 'गाहा' (गाथा) आरम्भ में दिया है। प्राकृत के दो नए मूल स्वरों का उपयोग इन छंदों में है। ए और ओ के दो ह्रस्व रूपों के लिए मात्रा का अलग चिह्न दिये गये हैं। ऐ ओ ह्रस्व ए और ओ को ज्ञापित करते हैं। गाहा, दोहा, छप्पय आदि छंदों के विविध भेद बतलाए गए हैं। मात्राओं के क्रम बदलने से एक ही छंद के भेद प्रस्तुत किए गए हैं। जितने भेद बतलाए गए हैं, उनके नामकरण तो मिलते हैं किन्तु

सबके उदाहरण नहीं मिलते। जो उदाहरण मिले हैं, वे दिए गए हैं। इन भेदों को बतलाने में भेदों की अन्य संभावनाओं के संकेत भी हैं। गाहा के उदाहरण अधिक हैं। इसमें से उपजे हुए छंद अनेक हैं। स्वयं दोहा छंद भी गाहा से उपजा हुआ प्रतीत होता है। आरम्भ में छंदों में मात्राओं की गणना के लिए लघु तथा दीर्घ (ह्रस्व तथा दीर्घ) स्वरों की पहचान के स्वरूप बतलाए हैं। छंदों के लक्षण और उनके भेद बाद में बतलाए हैं। लक्षण प्रायः प्राकृत भाषा में दिए गए हैं, और इनमें गाथा छंद प्रधान हैं। मात्राओं की गणना की विधियाँ बतलाई गई हैं। मात्राओं की गणना ठीक से हो तो छंद की पहचान सरल हो जाती है। लिपि में सारी व्यवस्था नहीं है। इस तथ्य को स्वीकार करते हुए मात्रा के साथ-साथ वर्ण-व्यवस्था के स्वरूप बतलाए गए हैं।

मात्रिक छंदों की अनुक्रमणिका, मात्रावृत्त परिच्छेद के अन्त में दी गई है, वह इस प्रकार है

गाहू, गाहा, विगाहा, उग्गाहा, गाहिणी, सिहिणी, खंधा, दोहा, उक्कच्छा, रोला, गंधाण, चउपइ आ, घत्ता, घत्ताणंद, छप्पाआ, पज्जडिआ, अडिल्ला, पाआउलअं, चउबोला णउपअ, पउमावती कुंडलिआ, गअणंगउ, दोअई, झुल्लणा, खंजपअ, सिक्खा, माला, चुलिआला, सोरड्डा, हारुवि, महुआर, महारु, दंडअरु, दीपवक, सिंहालोअ, पवंगा, लीलावड, हरिगीआ, तिअभंगी, दुम्मिला, हीरो, जनहरणी, मअणहरा, मरहट्टा पचताहीस धरा।

॥ इति मत्तावित्त परिच्छेओ ॥

पृ. 179-80

25

सभी नाम प्राकृत भाषा के हैं। आरम्भ में प्राकृत का लोकप्रिय छंद गाहा (गाथा) और उसके भेद दिए गए हैं। मात्राओं की संख्याएँ प्रधान हैं किन्तु गणना में मात्राक्रमों में भेद है। इसी से गाहा के भेद अलग-अलग हो गए हैं। लिखा है

दीहो संजुत्तपरो, बिंदुजुओ पाडिओ उन चरणंते।

सगुरु वंक दुमत्तो, अण्णो लहु होह सुद्ध ऐक्कअलो ॥2॥

अर्थात् दीर्घ स्वर (आ, ई, ऊ, ए, ओ) संयुक्ताक्षर से पूर्व अक्षर, बिंदुयुक्त अक्षर (अं,कं,खं...) तथा चरण के अंत में पतित अक्षर 'गुरु' होता है, यह वक्त (बाँका) तथा द्विमात्रिक होता है, अन्य अक्षर लघु होते हैं। ये शुद्ध तथा एककल (एकमात्रिक) होते हैं।

कहा है

ए ओ अं म ल पुर ओ सआर पुट्टेहिं वेवि वण्णा ओ।

कच्चलवग्गे अन्ता दह वण्णा पाउवे ण हवति॥

अर्थात्, ओ, अं, म तथा ल जिनके पूर्व हैं, ऐसी ध्वनियाँ (ऐ, औ, अः य, व); स जिसके बाद में है, ऐसे दो वर्ण (श, ष) तथा क च त वर्णों के अन्य वर्ण (ड, ज, न) ये दस वर्ण प्राकृत में नहीं होते।

पृ. 2 और 3

26

प्राकृत में मूर्द्धन्य ध्वनियों के गण भेद होते हैं। इस सम्बन्ध में गाथा इस प्रकार है

ट ड ड ढ ण इ मञ्जे, गणभेआ होंति पंच अक्खरओ ।
द्वपचतदा जहसंखं, छप्पंच उत्तिदु कलासु ॥ 12 ॥

गाथा, पृ. 5

अर्थात्, ठ, ड, ढ, ण के मध्य में पाँच गण भेद होते हैं, ये गणभेद यथाक्रम से छह, पाँच, चार, तीन, तथा दो मात्रा (कला) वाले होते हैं, तथा इन्हें ही छ, प, च, त, द भी कहा जाता है।

यहाँ विभिन्न मात्राओं वाले गणों का संकेत कर रहे हैं। ये गण दो मात्रा से लेकर छह मात्रा तक के होते हैं। दो मात्रा वाला णगण है, इसे दगण भी कहते हैं, तीन मात्रावाला ढगण है, जो तगण भी कहलाता है। चार से छह मात्रावाले गण क्रमशः डगण, ठगण, टगण हैं, जो उक्तक्रम से चगण, यगण, छगण भी कहलाते हैं। पृ. 15

इनके बाद में प्रत्येक गण के और भेद दिखलाए गए हैं। अगली गाथा में भेद बतलाए गए हैं

टगणो तेरह भेओ, भेआ अड्डाइ होंति टगणस्स ।
डगणस्स पंच भेआ, तिअ ढगणे वे वि णगणस्स ॥ 13 ॥

अर्थात् टगण तेरह प्रकार का होता है, ठगण के आठ भेद होते हैं, डगण के पाँच भेद होते हैं तथा टगण के तीन भेद और णगण में दो भेद होते हैं।

पृ. 26

टिप्पण में गणों की संख्याओं की गणना पद्धतियाँ बतलाई गई हैं। गणों की मात्राएँ और क्रमों के नाम हैं पंचकल (पाँच मात्राएँ वाला), चतुष्कल, तिप्पण कलापं, इस तरह और भी कल हैं और फिर इनके अलग-अलग नाम हैं। उदाहरण के लिए पंचकल प्रस्तार के गणों के आठ भेद हैं इन्द्रासन, सूर, चार्ज, हीर, शंखर, कुसुम, अहिरण, मापगर्ण, । पिगल ने आठ भेद कहे हैं। ये क्रमशः 1SS, S1S, 111S, SS1, 11S1, S11, S111, 11111 हैं। इसी तरह चतुष्कल, त्रिकल आदि गणों के भेदों के नाम भी दिए गए हैं। ये सब के सब चौतीस गाथाओं तक हैं। इसमें मूर्द्धन्य ध्वनियों का प्रयोग अधिक हुआ है।

27

भेद तो बहुत हैं, उनके सिद्धान्त हैं और नामकरण भी हैं किन्तु उदाहरणों को नहीं दिया गया है। उदाहरणों से अधिक सिद्धान्त और नामकरण हैं और नामकरण अन्त में दी गई अनुक्रमाणिका में भी नहीं हैं। किसे क्या कहना है और उनके क्रम और गणना को पहचानने की विधियाँ दी गई हैं। इसलिए बहुत विस्तार से नहीं लिखा है। अनुक्रमाणिका में 45 मात्रिक छंदों के नाम हैं और उनके उदाहरण दिए गए हैं। कुछ-कुछ उदाहरण नामकरणों के साथ में दिए हैं किन्तु ऐसे नामकरण पैंतालीस की संख्याओं के बाहर हैं तब तो नई सूची बनवानी होगी।

28

छंदशास्त्र में भी मूर्द्धन्य ध्वनियों का उपयोग प्राकृत भाषा में विशेष रूप से देखा गया है। “य मा ता रा जा मा न स ल गा”के रूप संस्कृत भाषा के अलग हैं। यगण, मगण, तगण, रगण, जगण, भगण, नगण और सगणये आठ गण अलग हैं। ये गण भी अलग से दिए गए हैं। मूर्द्धन्य ध्वनियों के अलगाव में प्राकृत भाषा की विशेषता है। मात्राओं की गणना उच्चारणों पर निर्भर हैलिपि पर नहीं। उच्चारणों के अनुसार लिपि-बद्ध करना कठिन है। प्राकृतों में संस्कृत के तत्सम रूपों का पूरी तरह से अभाव है। यह स्वयं आश्चर्य की बात है। देशी शब्द प्राकृतों में मिलते हैं और संस्कृत में नहीं मिलते। संस्कृत के सभी व्यंजनों में कुछ व्यंजन तो प्राकृतों में नहीं मिलते। कुछ स्वर भी नहीं मिलते। इनका उल्लेख अलग से किया जा सकता है। संस्कृत तो प्राकृत के शब्दों का संस्कृतीकरण कर लेती है किन्तु प्राकृत स्वयं संस्कृत का प्राकृतिकरण नहीं करती। संस्कृत के व्याकरण के सारे रूप प्राकृतों में नहीं मिलते। संस्कृत के समान प्राकृत के उपलब्ध रूपों को स्थिरता प्रदान करने का काम संस्कृत के आचार्यों ने किया है। इसीलिए संस्कृत की तरह प्राकृत, विशेष रूप से महाराष्ट्री, भी लोक भाषा से दूर हो गई। किन्तु प्राकृत का स्थिर होना प्राकृत को व्यवहार से मुक्त कर देना प्रमाणित हुआ। किन्तु सहज विकास को रोकना कठिन हो गया। प्राकृत कोअपभ्रंश कहना कहाँ तक ठीक है। अपभ्रंश को प्राकृत का सहज विकास कहना अधिक ठीक होगा। और अपभ्रंशों की देशी भाषाओं में परिणति सहज विकास है। जब देशी भाषाओं के भौगोलिक नामकरण हो गए और ये नामकरण अपने आप में भौगोलिक अधिक हैं। न तो संस्कृत नामकरण भौगोलिक है और न प्राकृत नामकरण भौगोलिक है और न ही अपभ्रंश नाम भौगोलिक है। भाषा का नामकरण भौगोलिक होने से उसकी स्वतन्त्र पहचान होती है। संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश नामकरण भौगोलिक नहीं अपितु व्याकरणिक है। शुद्ध, सहज, और बिगड़े हुए रूपों के अनुसार किए हुए नाम हैं। इसमें संस्कृत को मूल मानकर, सहज क्रम में बाद में रखा गया है। क्रम बदलने से बाधा

पहुँची है क्योंकि सहज विकास को अवरुद्ध करने का प्रयत्न हुआ है। वस्तुस्थिति यह है कि संस्कृतीकरण प्राकृतों का हुआ है इसलिए प्राकृत को मूल मानना तार्किक दृष्टि से भी ठीक लगता है। संस्कृत का प्राकृतीकरण हुआ ही नहीं वह तो अपने आप में भौगोलिक रूपों में विकसित होती रही। उसको बिगाड़ने या भ्रष्ट करने का काम जनता ने नहीं किया। उसे हम, भाषा विज्ञान की भाषा में, भाषा का विकास कहते हैं। काल-क्रम में भाषाएँ बदलती रहती हैं और शब्द-समूह का आदान-प्रदान लौकिक आवश्यकताओं के कारण होता रहता है। आधुनिक भाषाएँ प्राकृतों के विकास को ज्ञापित करती हैं संस्कृत के विकास को नहीं इसका सबसे बड़ा कारण स्वयं संस्कृत का व्याकरण (पाणिनि) है। इसको प्रतिमान मानकर अन्य भाषाओं के विकास को बतलाना कहाँ तक ठीक है?

29

मैं फिर दोहराते हुए यह बात कहना चाहूँगा कि मराठी में विश्वनाथ काशीनाथ राजवाड़े ने संस्कृत भाषेचा उलगडा (अर्थात् संस्कृत भाषा की उलझनें) पुस्तक लिखी है। उसको स्वयं मराठी में प्रसिद्धि नहीं मिली। हिन्दी में आचार्य किशोरीदास वाजेपयी 'गुरु के व्याकरण' को ठीक नहीं मानते थे किन्तु वह व्याकरण अंग्रेजी व्याकरण की पद्धति के कारण अब तक चला आ रहा है। पं. किशोरीदास वाजेपयी की घोर उपेक्षा हुई है। उनका शब्दानुशासन, अंग्रेजी पद्धति का नहीं है। उसमें सहज विकास पहचानने का प्रयत्न है। मन में प्राकृत भाषा को सहज विकास की भाषा मानकर वे सब लिखते रहे। चाहकर भी वे प्राकृत के साथ संगति बैठा नहीं सके। उनकी बात को ठीक मानकर डॉ. रामविलास शर्मा ने ऐतिहासिक भाषा विज्ञान के तीन भाग लिखे हैं। किन्तु मूल बात से वे भी दूर रहे। उन्हें प्राकृत के रूप कृत्रिम दिखलाई दिए। संस्कृत से आच्छादित प्राकृतों के मूल को वे भी पहचान नहीं सके। उनका सबसे बड़ा काम यह है कि भारत की भाषाओं (बोलियों) की भौगोलिक पहचान उन्होंने की। दूसरी बात उन्होंने अपना सारा श्रम आधुनिक भाषाओं की पहचान को उजागर करने में लगाया। उनकी इस पहचान की ओर भी विद्वानों का ध्यान नहीं गया।

30

आधुनिक भाषाओं की पहचान

आधुनिक भाषाओं की ऐतिहासिक पहचान की दृष्टि से 'प्राकृतपैंगलम्' ग्रंथ (चौदहवीं शती के पूर्वार्द्ध का) बहुत महत्वपूर्ण है। उसे ऐतिहासिक भाषा विज्ञान की दृष्टि से पहचानने की आवश्यकता है। आधुनिक भाषाओं के बाद में (लगभग 5

शताब्दियों से) यह ग्रंथ संग्रह हुआ है। आधुनिक भाषाओं का उद्भव यों तो आठवीं-नौवीं शताब्दी में हो गया था। चौदहवीं शती तक तो उसके विविध रूप विकसित हो गए थे। उनके मूल उद्भवों को पहचानने में यह ग्रंथ उपयोगी है। संस्कृत की पारम्परिक पद्धति मेंपश्चिम में अपभ्रंश और पूर्व में अवहट्ट भाषाओं का यह समय था। हिन्दी में इसे शुक्लजी ने वीरगाथा काल कहा है। इस कथन के लिए उन्होंने प्राकृत पैंगलम् को उद्धृत किया है।

‘चलिअ वीर हम्मीर पाअ भर भेइणि कंपइ।

दिगमग ण ह अंधार धूलि सुररह आच्छाहहि॥

इन पंक्तियों को शुक्लजी शार्ङ्गधर कवि की हम्मीर की वीरता की रचना मानते हैं। वस्तुतः यह पूरा छंद कुंडलिया है और उस छंद में छह चरण होते हैं। पूरा छंद (कुंडलिया) प्राकृतपैंगलम् के आधार पर नीचे लिख रहा हूँ

‘ढोला मारिअ ढिल्लि महँ मुच्छिअ मेच्छ सरीर।

पुर जज्जला मलिवर चलिअ वीर हम्मीर॥

चलिअ वीर हम्मीर पाअभर मेइणि कंपइ।

दिग मग णह अंधार धूलि सुररह रह झंपइ॥

दिग मग णह अंधार आण सुरसाणक ओल्ला।

दरमरि दमसि विषक्ख मारु, ढिल्ली महँ ढोल्ल’ ॥147॥

कुंडलिया

अर्थात्दिल्ली में जाकर वीर हम्मीर ने रणदुंदुभि (युद्ध का ढोल) बजाया, जिसे सुनकर म्लेच्छों के शरीर मूर्च्छित हो गये। जज्जल मंत्रीवर को आगे कर वीर हम्मीर विजय के लिए चला। उसके चलने पर (सेना के) पैर के बोझ से पृथ्वी काँपने लगी। दिशाओं के मार्ग में, आकाश में अँधेरा हो गया तथा खुरासाण देश के ओल्ला लोग (पकड़ कर) ले आए गए। हे हम्मीर, तुम विपक्ष का दलमल कर दमन करते हो, तुम्हारा ढोल दिल्ली में बजाया गया।

हम्मीर का उल्लेख ‘छप्पय’ के उदाहरण में मिलता है

पिंधउ दिढ सण्णाह वाह उप्पर पक्खर दइ।

बंधु समदि रण धसउ सामि हम्मीर वअण लइ॥

उड्डण णहपह भमउ खग्ग रिउसीसहि झल्लउ।

पक्खर पक्खर ठैल्लि पेल्लि पव्वअ अप्फालउ॥

हम्मीर कज्जु जज्जल भणह को हाणलमह मइजलउ।

सुलताण सीस करवाल दइ तज्जि कलेकर दिअ चलउ ॥106॥

छप्पय

इसी तरह *रोला* छंद का उदाहरण, छंद संख्या ॥72॥ भी वीर हम्मीर के युद्ध में प्रयाण से सम्बन्धित है। छंद संख्या ॥151॥ भी वीर हम्मीर के युद्ध प्रयाण से सम्बन्धित है। वह गगणांग छंद का उदाहरण है। युद्ध के वर्णन वाले अनेक छंद हैं। उनमें वीर सैनिकों का आह्वान है। हम्मीर का नाम नहीं है। इन वर्णनों में लगता है कि युद्ध अनिवार्य मानकर तैयारी की जाती है। अलाउद्दीन खलजी के काल की रचनाओं के उदाहरण हैं। काव्यों के नाम नहीं हैं और न रचयिताओं के नाम हैं। इनकी भाषा प्राकृत सदृश होने पर भी इनके रूप आधुनिक भाषाओं से मेल खाते हैं। भाषा पछाहीं (पश्चिम भारत की) अधिक है। इनको अपभ्रंश भी पूरी तरह से नहीं कहा जा सकता। *वीर गाथाओं* की रचनाएँ प्रतीत होती हैं। भारत पर पश्चिम से निरंतर आक्रमण होते रहे हैं। वह सुलतानों का युग था।

31

शृंगार के वर्णनों से युक्त प्रायः विरहिणियों के चित्त की दशाओं को उजागर करने वाले अनेक छंद हैं। इनके रचयिताओं के तथा रचनाओं के नामों का उल्लेख नहीं है। इनकी भाषा प्राकृत से प्रभावित है। कुछ बदले-बदले रूप आधुनिक भाषाओं के संकेत देने वाले हैं। आधुनिक भाषाओं में भी विशेष रूप से बोलियों के हैं। इन वर्णनों में प्राकृतों का ललित रूप विकसित होता प्रतीत होता है। बोलियों का भौगोलिक अलगाव नहीं हुआ था। उनका क्षेत्र व्यापक था। प्राकृतों में सब का समाहार था। इनमें, गुजरात, महाराष्ट्र, राजस्थान, हरियाणा, पंजाब प्रायः सभी पश्चिमी प्रदेश सम्मिलित रहे हैं। इन क्षेत्रों में मूर्द्धन्य ध्वनियों का प्रचलन अधिक था। मूर्द्धन्य को दन्त्य में परिणत कर दें तो उनकी आधुनिक पहचान हो जाती है। विशेष रूप से मूर्द्धन्य अनुनासिक (ण्) को दन्त्य (न्) में परिणत कर दें तो आधुनिक भाषाओं के रूप बन जाते हैं।

32

व्यंजनों में मूर्द्धन्य ध्वनियों के सम्बन्ध में विशेष रूप से लिखना है। ये ध्वनियाँ प्रधान रूप से पश्चिमी भारत की ध्वनियाँ हैं। पूर्व में इनको कठोर ध्वनियाँ कहा गया है। इनका उच्चारण पश्चिम में स्पष्ट रूप से किया जाता है। इनके आसपास की ध्वनियों का (व्यंजनों का) लोप हो जाता है और उनका स्थान स्वर ले लेते हैं। स्वरों के बाहुल्य का कारण व्यंजनों का लोप है। पूर्व की भाषाओं में व्यंजनों का लोप होता तो है किन्तु पश्चिम के परिमाण में कम है। मूर्द्धन्य ध्वनियों का व्यवहार दक्षिण की भाषाओं में भी होता है। इन मूर्द्धन्य ध्वनियों में भी *णकार* का व्यवहार पश्चिमी भारत में अधिक है। *णकार* आरम्भ, मध्य और अन्त में ही नहीं अपितु द्वित्व रूप में भी होता है। मूर्द्धन्य ध्वनियों के स्पष्ट उच्चारण के कारण अन्य ध्वनियों (व्यंजनों) का उच्चारण मंद हो

जाता है या लोप हो जाता है। बौद्धों के मूल ग्रंथों (मागधी-पालि) तथा जैनों के मूल ग्रंथों की भाषाओं में अर्द्धमागधी में णकार का व्यवहार होता है किन्तु आरम्भ में नहीं होता। आगम ग्रंथों की अर्द्धमागधी में 'इकार ~ यकार/उकार ~ वकार/का बाहुल्य है। ऐसा लगता है कि साहित्यिक प्राकृत मेंमहाराष्ट्री में इनका व्यवहार अधिक है। मराठी में मूर्द्धन्य ध्वनियों का बाहुल्य है। गुजराती में है, राजस्थानी में है, पंजाबी में है। किन्तु ये मूर्द्धन्य ध्वनियाँ सिन्धु नदी के पश्चिम में नहीं मिलतीं। ब्रजभाषा में मूर्द्धन्य अनुनासिक नहीं है। इससे लगता है कि शौरसेनी प्राकृत महाराष्ट्री प्राकृत से भिन्न हो गई है। डिंगल-पिंगल में भी यह भेद मिल सकता है।

33

प्राकृतपैंगलम् की भाषा साहित्यिक प्राकृत है और उसको प्राकृत भाषा की धार्मिक भाषाओं (जैनों और बौद्धों की) से भिन्न भाषा मान सकते हैं। दूसरी बात यह है कि प्राकृतपैंगलम् की भाषा राजदरबारों की भाषा है। उसका सम्मान राजाओं ने किया है। राजशेखर ने इनकी भाषाओं के सम्बन्ध में ठीक ही लिखा है। प्राकृत भाषा के जिन ग्रंथों के अनुवाद अधिक हुए, वे प्रायः महाराष्ट्री (साहित्यिक प्राकृत) के हैं। साहित्य की परम्परा राजदरबारों से आरम्भ हुई। वह पहले प्राकृत में हुई और बाद में संस्कृत में हुई और यह परम्परा चौदहवीं शती के आरम्भ तक चलती रही है।

34

दरबारी भाषा में भी परिवर्तन जारी रहा है। आधुनिक भाषाओं के संकेत दरबारी भाषाओं में ही अधिक मिलते हैं। युद्धराजाओं के बीच होते थे और फिर विदेशी आक्रमण भी होने लगे थे। यह सब संस्कृत की तुलना में प्राकृतों में अधिक लिखे गए। वीरगाथा काल की प्रवृत्तियाँ पहले प्राकृतों में अधिक मिलती हैं और उसका सीधा सम्बन्ध हमारी आधुनिक भाषाओं से है। आधुनिक भाषाओं के संकेत व्यापक रूप में इनमें हैं, इसलिए इस भाषा को (बदले हुए रूपों कोव्याकरणिक रूपों को)देखकर पश्चिम और पूर्व की भाषाओं के नमूने इन उदाहरणों में खोज लेते हैं। पश्चिम में इसी को अपभ्रंश कहा गया और पूर्व में इसे अवहट्ट कहा गया। अर्थात् साहित्यिक प्राकृत का विस्तार पूर्व में भी था। साहित्यिक प्राकृत में प्रायः सभी आधुनिक भाषाओं का समाहार रहा है। और इसके आधार पर इस बात की पुष्टि होती है कि साहित्यिक भाषासामयिक प्रभावों सेमुक्त नहीं रह सकती। उसमें ऐतिहासिक संकेत मिलते रहते हैं। साहित्यिक प्राकृतों में विपुल ग्रंथ लिखे गए हैं किन्तु वे सब अब लुप्त हो गए हैं। हम केवल संग्रहों के बल पर उन मूल ग्रंथों का अनुमान कर सकते हैं। कविगण तो अज्ञात ही हैं।

वार्षिक छंदों के सम्बन्ध में या छंदशास्त्र के सम्बन्ध में चाहकर भी विस्तार भय के कारण नहीं लिख पाया हूँ किन्तु इस सम्बन्ध में इतना ही कहना चाहूँगा कि प्राकृत वाङ्मय में छंद-बाहुल्य है। ये छंद मूल संस्कृत के (पूरी तरह से) संभव नहीं लगते हैं। संस्कृत में वार्षिक छंद नहीं है, ऐसा तो नहीं कहता किन्तु इतने परिमाण में संभवतः न हों। प्राकृत के ललित रूप के कारण संस्कृत में भी लालित्य मिलता है और उसमें जयदेव जैसा कवि है। प्राकृत के लालित्य को दर्शाने वाले किसी एक कवि का नाम लेना कठिन है। छंदों के साथ-साथ संगीत जुड़ा हुआ है। और इसीलिए उस शास्त्र का स्वतंत्र महत्त्व है। विशेष बात यह है कि प्राकृत में भी साहित्य-साधना, शास्त्रीय दृष्टि से, बहुत हुई है और उसके लक्षण हमें 'प्राकृत-पैंगलम्' में मिलते हैं। हिन्दी साहित्य का वीर गाथा काल ही नहीं अपितु रीतिकाल की परम्परा का उद्भव ग्रंथ हम प्राकृत-पैंगलम् को मान सकते हैं। संस्कृत के आचार्यों ने इस ग्रंथ की लोकप्रियता का अनुभव किया और इसकी अनेक टीकाएँ संस्कृत में लिखीं।

पत्रकारिता का भाषा बोध

पुष्पपाल सिंह*

प्रथमतः हिंदी के कुछ सर्वाधिक विक्री के आँकड़ों वाले तथा अत्यंत प्रतिष्ठित, समादृत समाचार-पत्रों के रविवारीय और सप्ताह के अन्य दिनों के परिशिष्टों (पुल-आउटों) के कुछ शीर्षक द्रष्टव्य हैं :

1. 'SUNDAY लाइफ' (दैनिक भास्कर)

इसमें अन्तर्वर्ती पृष्ठों पर कुछ शीर्षक (विभिन्न अंकों से) :

'वाटिड', 'हैपिली मैरिड विद चण्डीगढ़',

'लक्जरी बोले तो बी.एम.डब्लू या मर्सिडीज',

'लाइफ-राउंड दी क्लॉक',

एक पिछले आवरण पृष्ठ पर फिल्मी खबरों के लिए शीर्षक 'टॉप एण्ड फ्लॉप',

'कमाई के साथ आउटिंग भी, ज्योतिष का पृष्ठ' Star says',

'नालेज Page के अन्तर्गत 'लेफ्ट हैंडर्स राइट वंडर्स'; फैशन पृष्ठ पर 'स्टाइल edge'.

2. स्पोर्ट्स (अमर उजाला)

कैरियर प्लस (अमर उजाला)

टीन वर्ल्ड (अमर उजाला)

फोर्टी प्लस (अमर उजाला)

Junior आओ Smart बनें (अमर उजाला) (इसके मध्यवर्ती पृष्ठों में दो पृष्ठों के आधे से अधिक भाग पूरे-पूरे अंग्रेजी में 'जी K Quiz' के साथ

3. 'नई राहें' परिशिष्ट में एक शीर्षक यथावत् रोमन में

ANIMAL WORD-GREAT ELEPHANT

Be Creative & Innovative

*पूर्व प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, पंजाबी विश्वविद्यालय, पटियाला, पता: 63 केसरबाग, पटियाला

व्हीस्पर कैपेन ने लिया लिखित रूप 'राज्य भर में किसानों ने ट्रेनों रोकी'
(दैनिक जागरण)

4. Hello Delhi (नवभारत टाइम्स)

5. वर्किंग मॉम की लाइफ लाइन (सहारा आजकल)

'अंतर्वर्ती पृष्ठों पर कुछ शीर्षक' 'ब्यूटी विद ब्रेन', 'फूड फ्लेवर्ड-ब्यूटी उत्पाद'

ये हमारी मातृभाषा हिंदी के कुछ अखबारों के कुछ भाषा नमूने हैं और आप तथा हम हैं कि इन्हे पहचान नहीं पा रहे हैं कि ये किस भाषा के अखबार हैं। इन समाचार-पत्रों के इस भाषा-बोध और नीयत तथा उद्देश्य पर विचार करना समय की आवश्यकता है।

अब से कुछ समय पहले तक यह विश्वास कायम था कि समाचार-पत्र जिस भाषा का प्रयोग करते हैं वह चलित भाषाक्वाइंड लैंग्वेजका मानकीकृत रूप है। भाषा को परिनिष्ठित रूप में ढालने के साथ-साथ पत्रकारिता भाषा के विकास, उसे नया-नया रूप-मुहावरों की गरिमा, शब्दों के विभिन्न प्रसंगों में विभिन्न रंग और ध्वनियाँ, शब्द-कौतुक द्वारा भाषा को नयी ऊर्जा, सामर्थ्य-क्षमता प्रदान करने का महत्वपूर्ण कार्य करती है। लम्बे-लम्बे कोश में बन्दी शब्दों को थोड़े ही समय में भाषा ने नई स्वतन्त्रता दे कर उनका रूप ही बदल दियाउन्हें नयी धज दी, लाघव और मार्दव प्रदान कर आकर्षक बना दिया। कितना लंबा था 'संसद सदस्य', इसे समाचार-पत्रों ने ही 'सांसद' बनाया; कितना अनगढ़-सा प्रयोग था 'नगर परिषद् सदस्य : समाचार पत्रों ने उसे 'पार्षद' किया। कितना अनुवाद-जीवी शब्द था 'उप कुलपति' समाचार-पत्रों ने उसे 'कुलपति' बनाया और 'चांसलर' को 'कुलाधिपति' ऐसे कितने ही उदाहरणों से यह संपुष्ट किया जा सकता है कि नए-नए शब्द गढ़ कर कितने-कितने नये प्रयोगों से पत्रकारिता ने भाषा को समृद्धि प्रदान की है। यूँ ऐसे उदाहरण भी हैं जहाँ पत्रकारिता ने चूक कीअंग्रेजी पद-नामों आदि को सुविधापूर्वक नहीं बदला'रजिस्ट्रार' (विश्वविद्यालय सन्दर्भ में) का स्थानापन्न 'कुल सचिव' उनहोंने प्रायः प्रयुक्त नहीं किया। कुछ अनुवादजीवी शब्दों को यदि छोड़ दिया जाए तो भाषा की प्रभावी क्षमता देखते ही बनती है। अंग्रेजी के पास मारने के अर्थ में केवल 'किल्ड' है, किन्तु जब हिन्दी समाचार-पत्र 'दस आतंकवादी डेर' या 'हलाक' कहते हैं तो समाचार का प्रभाव सीधे-सीधे पड़ता है। हिन्दी के ही समाचार-पत्र नहीं अपितु प्रत्येक भाषा के पत्र भाषा में नये-नये प्रयोग कर भाषा की शक्ति में अभिवृद्धि कर रहे हैं। अंग्रेजी में कोई न्यूनता नहीं है, वहाँ यह काम और भी मुस्तैदी से समाचार-पत्रों द्वारा हो रहा है। वहाँ नित्य नए प्रयोग, दूसरे कार्य-क्षेत्र के शब्दों को किसी अन्य कार्य-क्षेत्र और सन्दर्भों में प्रयुक्त कर शब्दों को जो नई-नई भंगिमाएँ, अर्थ-छवियाँ प्रदान की जाती हैं, वह देखते ही बनती हैं। नए-नए विशेषण बिलकुल नए सन्दर्भों में जिस प्रकार वहाँ अपनी निर्मिति पाते हैं, उसे देख कर अपनी भाषा के अखबारों की भूमिका नगण्य लगती है।

इधर पिछले 8-10 वर्षों में ही कुछ समाचार-पत्रों ने अपने क्षेत्रीय संस्करण प्रकाशित कर भारत भर में छा जाने की मुहीम जिस रूप में छेड़ी है, उसे देख कर आश्चर्य होता है कि उन्होंने हिन्दी समाचार-पत्र का कितना बड़ा पाठक-वर्ग तैयार किया है। एक-एक पत्र के कितने ही नगरों से संस्करण-दर-संस्करण निकाल कर इन समाचार-पत्रों ने अपना बाजार बनाया है, करोड़-करोड़ की बिक्री वाले आँकड़े प्रस्तुत किए हैं। निश्चय ही इन अखबारों ने एक चुनौती स्वीकार की है कि इतने बड़े हिन्दी-भाषी समाज में हिन्दी के अखबार के पाठक/ग्राहक इतने कम क्यों हैं? इन्होंने अपनी बढ़ती बिक्री से यह सिद्ध किया है कि हिन्दी समाचार-पत्र के पाठक भी इतनी बड़ी संख्या में मौजूद हैं। तरह-तरह की नयी इनामी योजनाओं और विपणन-नीति, बाजार-प्रबंधन की नयी-नयी जुगतों ने हिन्दी समाचार-पत्रों का एक बड़ा पाठक वर्ग बनाया है। यह बहुत स्वस्थकर स्थिति है किन्तु चिन्ता का विषय यह है कि ये समाचार-पत्र भ्रष्ट भाषा की होड़ा-होड़ी में कौन-सी भाषा हिन्दी समाज को दे रहे हैं या कहेँ इस हिंदी भाषी समाज की भाषा को किस ढब और चाल में ढाल रहे हैं। एक चिन्ताजनक बात यह भी है कि प्रादेशिक भाषा के अखबारों में भी भाषा को प्रदूषित करने ही होड़ा-होड़ी की संक्रमक बीमारी हिंदी अखबार की तरह ही फैलती चली जा रही है। एक दिन यूँ ही पंजाबी का एक अखबार उठाया, उसके फिल्मी पृष्ठ पर पंजाबी में शीर्षक था 'हालीवुड सैलीब्रिटीज'फिर दो सिनेतारिकाओं के नाम पूरी तरह अंग्रेजी-रोमन में। पता नहीं भाषा का कौन-सा आन्दोलन या शब्द शिल्पियों का कौन-सा विरोध इस आँधी को रोक पाने में समर्थ हो सकेगा!! हो भी सकेगा या नहीं? शायद नहीं!! फिर भी नक्कारखाने में तूती की आवाज उठती ही रहनी चाहिए, उतनी बुलन्दी से जितनी बुलन्दी से हम उठा सकें।

बड़ी रोचक बात यह है कि हम समाचार-पत्रों में अपनी भाषा का 'हिग्लिशीकरण' और कहीं-कहीं पूरी तरह अंग्रेजीकरण उस समय कर रहे हैं जब अंग्रेजी के समाचार-पत्र अपनी भाषा में देसी तड़का लगाते हुए हिन्दी के शीर्षक जस के तस अपना रहे हैं। (इन पंक्तियों के लिखते समय) अंग्रेजी 'हिन्दुस्तान टाइम्स' चण्डीगढ़ सामने है उसमें 'फूड' के अन्तर्गत यह शीर्षक रोमन में है ' KUCHH MEETA HO JAYE' (कुछ मीठा हो जाये), इसी प्रकार 'GYAIKA GAAYAB' (गायिका गायब), इसी तरह इनके विज्ञापनों में 'SALE DHAMAKA' - 'BHARI CHHOOT', 'BANJAYE LIFE' जैसे अनेक प्रयोग देखे जा सकते हैं - इस सबका 'अर्थात्' यह बनता है कि विज्ञापन-गुरु इस मंत्र-मंत्रा' (MANTRA) को मान चुके हैं कि यदि हिन्दी भाषी जनता में अपने उत्पाद की बिक्री बढ़ानी है तो अंग्रेजी में हिन्दी का 'तड़का' लगाना पड़ेगा जिससे उनके विज्ञापन एकदम प्रभावी और लोकप्रिय धुन की तरह आकर्षक, मोहक बन सकें। फिर समझ में नहीं आया कि हिन्दी समाचार-पत्रों के विपणन-नीति निर्धारक अपने संपादकों को निर्देशित कर भाषा का कौन-सा खेल रचना चाहते हैं।

जब यह प्रक्रिया प्रारम्भ हुई तो इसकी पीड़ा का गहरा अहसास करते-कराते हुए मनोहरश्याम जोशी ने अपने खिलंदड़ी अंदाज में एक बहुत सशक्त कहानी 'हाय दिल्ली उर्फ एक दिल्लीसिके की वाह' (हंस, जून 2002 ई.) लिखी जिसमें व्यंग्य को एक जबर्दस्त अस्त्र के रूप में प्रयोग कर हिन्दी पत्रकारिता को वर्तमान गर्त में डुबोने की स्थितियों का सार्थक प्रतिकार किया गया था। बताने की आवश्यकता नहीं है कि अपनी तेज प्रबंधन-व्यवस्था, आकर्षक इनामी योजनाओं से लैस विज्ञापनी व्यवस्था ने इन समाचार-पत्र की बिक्री को खूब चमकाया है। पर भाषा को इस प्रकार भ्रष्ट कर समाचार-पत्र की बिक्री बढ़ाने का यह तो कोई कारगर उपाय नहीं है। यह भी इन समाचार-पत्रों का मुगालता है कि बिक्री भाषा की इस नयी प्रयोगदृष्टि से बढ़ रही है। बिक्री तो इन पत्रों के अधिकाधिक सनसनीखेज खोजी पत्रकारिता के शगूफों और उनके द्वारा प्रस्तुत सामग्री के कारण बढ़ रही है। इसी सब सामग्री को शालीन संस्कारी और परिनिष्ठित भाषा में परोस कर देखिएतब भी बिक्री उतनी ही रहेगी। यह भी कोई तर्क नहीं बनता कि हम भूमण्डलीकरण के अन्य प्रभावों को भी तो आत्मसात कर रहे हैं, क्यों नहीं हम यह स्वीकार कर लेते कि भाषा का वैश्वीकरण ऐसे ही होगा। सब क्षेत्रों में समेकन-प्यूजन-रीमिक्स चल रहा है तो भाषा को भी यह समेकन, रीमिक्स स्वीकार करना होगा, यह बोदा तर्क है!!

मनोहरश्याम जोशी की उपरिलिखित कहानी में 'हिंग्लिश' के साथ-साथ एक और शब्द दिया गया है 'पन्डिंग्लिश' जिसका तात्पर्य पंजाबी + हिन्दी + इंग्लिश है। इस सत्य की प्रतीति एक हिन्दी समाचार पत्र के परिशिष्ट (पुल आउट) 'पंजाबियाँ दा टशन' से होती है।

समाचार-पत्र एक निष्ठा, सेवा भाव और उद्देश्य से निकाले जाते थे। स्वतन्त्रता आन्दोलन का इतिहास इसकी साक्षी देता है। किन्तु आज समाचार-पत्र, अधिकांश समाचार-पत्र, एक उत्पाद के रूप में निकल रहे हैं। सांस्कृतिक मूल्य, राष्ट्र-निर्माण, भाषा और साहित्य की अभिवृद्धि जैसे आदर्श इनके लिए कोई अर्थ नहीं रखतेमाल को बिकाऊ होना है। हाल के दिनों में किसी समाचार-पत्र के ये शीर्षक देखकर बहुत देर तक चिन्त खिन्न रहा, सोचता रहा कि यह कौन-सी भाषा ईजाद हो रही है? शीर्षकों के अन्तर्गत समाचार भाषा का हाल कुछ ऐसा है : "डीसीज और एसएसपीज हमारी ही नहीं सुनते", "सीएम के साथ मामला उठाएंगे...सिंह।" "श्रीघ्न ही 'मुख्यमंत्री' के साथ चेररमैनों की बैठक बुलाई जाएगी" जब आप समाचार के विस्तार में 'मुख्यमंत्री' लिख कर यह मान लेते हैं कि आपका पाठक 'मुख्यमंत्री' स्वीकार कर लेगा, उसे भली प्रकार समझ लेगा तो आप शीर्षक में 'सीएम', 'पीएम' क्यों लिख रहे हैं? सवाल यह उठता है कि आप अखबार किस भाषा में किस भाषा-वर्ग के लिए निकाल रहे हैंहिन्दी का ही न!! अंग्रेजी या 'हिंग्लिश', 'पन्डिंग्लिश' का तो नहीं। न ही यह शक किया जा सकता है कि हमारा अखबार आम-फहम भाषा का प्रयोग कर रहा है। यह

तो अवाम को आम-फहम भाषा के नाम पर वैचित्र्यपूर्ण भाषा परोसी जा रही है जिसे पचाने, आत्मसात करने के लिए उसे विवश किया जा रहा है, भले ही वह उनके गले से नीचे उतरे या न उतरे। कुछ समय पहले प्रायः ही यह कहा जाता था कि 'आकाशवाणी समाचार हिन्दी में नहीं देतीसमाचारों में हिन्दी देती है। हिन्दी में समाचार नहीं, समाचारों में हिन्दी।' चारों ओर अमेरिकीकरण का पसारा फैलता जा रहा है, अब हिन्दी का भी अमेरिकीकरण बिना किसी जरूरत, बिना किसी बाहरी दबाव के होड़ाहोड़ी में होता चला जा रहा है। ऊपर एक उदाहरण से स्पष्ट किया गया था कि इस संक्रामक रोग से अन्य भारतीय भाषाओं के अखबार भी संक्रमित हो रहे हैं। हिकारत की दृष्टि से देखते हुए 'समाचारों में हिन्दी' के जो अनेक-अनेक उपहास, चुटकले ईजाद किए गए थे, अब उनके बर-अक्स अखबारों में परोसी गयी 'हिन्दी में अंग्रेजी' के कुछ हास्यास्पद नमूने देखिए : 'हैल्थ मंत्र', 'कैरिअर मंत्र' जैसे शीर्षकों से समाचार-पत्रों के परिशिष्ट पहले ही आ रहे थे किन्तु अब एक अखबार ने 'Plus' (रोमन में) शीर्षक से अपना अंतिम पृष्ठ निकाला है। हिन्दी अखबारों में कुछ स्तंभों के शीर्षक पूरी तरह अंग्रेजी में ही छपते हैं, यथा-"Dance with me", "Film work", "Video Par Talwar", "Filmi Rang", "Himachal Ki Sair", "Romanchak Khel", "Filmi Duniya", "Western Colour", "Bollywood" "Good Luck", "Punjabi Play", "Fashion Trend Banda Bindas Hai" ये सारे शीर्षक और लेख के प्रारम्भ में दिए गए शीर्षक सप्ताह के सभी दिनों के समाचार-पत्रों से दिए गए हैं। अब कुछ समाचार-पत्र नित्य या रविवार को SMS Funda छाप कर कुछ अंग्रेजी ई-मेलों से पाठकों को मालामाल कर रहे हैं। सोचा जाए कि इनमें कौन-सा शीर्षक ऐसा है जिसे देवनागरी लिपि या उसी रूप में हिन्दी में वह अर्थ-छवि न दी जा सकती हो। 'वेस्टर्न कलर्स' को 'पश्चिमी रंग' लिखने में क्या हर्ज है, अथवा इनकी कोई विशेष प्रभावान्विति पाठक पर पड़ती हो, ऐसा भी नहीं है। इन शीर्षकों से पता नहीं चलता है कि अखबार 'हिन्दी का है या हिन्दी में अंग्रेजी का।' अभी एक समाचार पत्र के रविवारीय पन्नों के फिल्मी खबरनामों में शीर्षक है 'स्टार स्पीक'। कभी-कभी तो इस हिन्दी को पढ़ कर सिर चकराने लगता है। "अंडर ट्रायल कैदियों की पहले से ही प्लानिंग थी कि पेशी के बाद बख्शीखाने से भाग जाना है।" "दलीप मर्डर केस की अगली सुनवाई", "32 प्राइमरी स्कूलों की बिल्डिंग कंस्ट्रक्शन के लिए", "लाइब्रेरी प्रशासन 2000 किताबों की संख्या को एकजेक्ट फीगर नहीं मानता", "वे एयरफोर्स को क्या बता कर हमले के लिए बुलाते", "ब्रिगेडियर ने वार के समय इस चोटी पर हमला भी किया था।" किस विवशता के तहत इन अंग्रेजी शब्दों का इस्तेमाल किया गया है।" क्या हिन्दी और हिन्दी समझने वाले इतने कंगाल हैं कि न तो उनके पास 'अंडर ट्रायल' के लिए शब्द है, न 'प्लानिंग' के लिए, न 'वार' के लिए, न 'बिल्डिंग' के लिए, न 'एकजेक्ट फीगर' के लिए, न 'वार' के लिए।

अखबार को डर है कि इन शब्दों के लिए खूब-खूब प्रचलित हिन्दी शब्दों को जनता-जनार्दन समझ नहीं पायेगी, हाँ उन्हे यह विश्वास अवश्य है कि 'बख्शीखाने' जैसे अल्पज्ञात शब्द को हर आदमी समझ लेगा !! मीडिया तरह-तरह से भूमण्डलीकृत 'नियामतों' को जन-मानस पर थोप रहा है, उसका सबसे मारक हथियार इस भाषा की ईजाद है। इसी पत्र के संपादन से जुड़े एक वरिष्ठ कर्मों से जब इस सम्बन्ध में बात हुई तो उन्होंने बड़े गर्वीले अन्दाज में कहा अरे साहब, रिक्शा वाला भी हमारा पत्र पढ़ रहा है और उसे यह भाषा रास आ रही है। जो रिक्शावाला समाचार -पत्र पढ़ता है, वह इस भाषा के आकर्षण में बंध कर अखबार नहीं खरीदता-वह तो खरीदने के बाद देखता है कि उसे कौन-सी भाषा परोसी गयी है। पत्र की भाषा नहीं अपितु भीतर और ऊपर छा रही नग्न-अर्द्धनग्न तस्वीरें, भड़काऊ विज्ञापन (इस मुद्दे पर बात फिर कभी), इनामी योजनाओं में बिखरता धन और अन्य आकर्षक वस्तुएँ - उसे 'सपनों का' अखबार खरीदने की बाध्यता देते हैं। जहाँ अंग्रेजी के शब्द हिन्दी शब्दों से आसान और सहज दिखायी दें, वहाँ उनका प्रयोग बेहिचक किया जा सकता है-मसलन उत्तरी क्षेत्र के लोग 'विश्वविद्यालय' को कठिन पा रहे हैं और 'यूनिवर्सिटी' को सरल तथा प्रचलित तो 'यूनिवर्सिटी' के प्रयोग में कोई हिचक नहीं होनी चाहिए।

इस सन्दर्भ में हिन्दी के पुराने प्रतिष्ठित समाचार-पत्रों- 'जनसत्ता', 'नवभारत टाइम्स', 'हिन्दुस्तान', 'दैनिक ट्रिब्यून', आदि तथा क्षेत्रीय समाचार-पत्रों - 'सन्मार्ग' (कलकत्ता), 'प्रभात खबर' (राँची), 'देशबन्धु' (राँची, बिलासपुर), 'लोकमत' (नागपुर), पटना, भोपाल, इन्दौर, आदि से निकलने वाले पुराने पतिष्ठित पत्रों ने अपनी भूमिका का निर्वहन भली प्रकार किया है। इनकी भाषा-नीति भूमण्डलीकृत प्रभावों 'हिंग्लिश' के व्यामोह में नहीं पड़ी है। जब ये अखबार अपना प्रबुद्ध और जन-सामान्य पाठक वर्ग बना कर चल सकते हैं तो तेजी से अपना वर्चस्व फैला रहे अखबार क्यों नहीं अपने सांस्कृतिक कर्तव्य को ध्यान में रख इस भ्रष्ट भाषा की आँधी के प्रदूषण को रोक पाने में समर्थ हो रहे हैं? आवश्यकता केवल अपनी आँखें खोलने और पत्रकारिता के कर्तव्य और निष्ठा के पालन की है।

समाचार-पत्रों में भाषा को लेकर जो उच्छृंखलता है, उसका एक उदाहरण वर्तनी सम्बन्धी लापरवाही से भी दिया जा सकता है। 'जागृत', 'जागृति', 'पूजनीय', 'कृप्या', 'अधिग्रहीत', 'संग्रहीत', 'प्रस्तुतिकरण', 'दृष्टव्य' जैसे प्रयोग तो वहाँ बेफिक्र हो कर किए जा रहे हैं। कभी किसी समाचार-पत्र के वरिष्ठ संपादक से जब कहा कि भई ! 'अधिग्रहण' और 'अधिग्रहीत' कर अन्तर कीजिए तो उन्होंने पूर्ण विनम्रता से अपनी अनभिज्ञता बताई कि मुझे पता ही नहीं कि ऐसा है। मेरे सन्तोष का बिन्दु यह था कि उन्होंने मान तो ली, अपनी अनभिज्ञता में 'भिड़े' तो नहीं। प्रश्न यह है कि भाषा को बहता नीर के नाम पर क्या पूरा खुला छोड़ देना श्रेयस्कर है? जो लेखक चाहे

उसका जैसा चाहे प्रयोग करें या उसके परिनिष्ठित और मानक रूप की भी कोई चिन्ता की जा सकती है।

इस सम्बन्ध में मुझे 'कल्पना' और उसके यशस्वी संस्थापक तथा संपादक बदरीविशाल पिती याद आ रहे हैं जिन्होंने पत्रिका के प्रारम्भिक वर्षों में इस भाषागत अव्यवस्था को देखते हुए अप्रैल 1950, जून 1950 और अगस्त-अक्टूबर 1950 के अंकों में भाषा के मानकीकरण के सम्बन्ध में खुली चर्चा चलाई थी। फिर उन्होंने प्रायः दस वर्ष पश्चात् अपने सभी लेखकों को वर्तनी सम्बन्धी सुझाव देते हुए उन नियमों के संक्षिप्त-से हैंडबिलनुमा पत्रक जारी कर अनुरोध किया कि सभी लेखक इन नियमों को अपनाएं और सभी से व्यापक रूप से इन्हें प्रचारित करने की उन्होंने प्रार्थना भी की।

आज जब हम समाचार-पत्रों, पत्रिकाओं में भाषागत अशुद्धियां देखते हैं तो पीड़ा तो होती ही हैयह बोध भी चिन्ता देता है कि आगे-आगे, समय बीततेये प्रयोग ही मान्य हो जाएंगे। प्रतिष्ठित पत्रिकाओं के प्रबुद्ध संपादक भी वर्तनी की ओर ध्यान नहीं दे रहे हैं, जैसी रचना आती है उसको यथावत् मुद्रित करवा रहे हैं। यह भाषा के लिए एक चिन्ताजनक स्थिति है।

इधर पत्र-पत्रिकाओं में 'यह' और 'ये' को ले कर जो अव्यवस्था है उसकी ओर हम ध्यान दिलाना चाहेंगे। बिना उदाहरणों के बात स्पष्ट नहीं हो पाएगी और न हम इस समस्या की विकटता से परिचित हो पाएंगे। मेरा विनम्र आग्रह इतना है कि इसे 'दोष-दर्शन' के रूप में न लिया जाए। मैं एक समस्या से रू-ब-रू कराना चाहता हूँ। जो ज्यादा प्रतिष्ठित पत्रिकाएं और बहुत अधिक सजग लेखक नहीं हैं, उनसे तो ज्यादा उम्मीद भी नहीं जगती। मगर हमारी अपेक्षा प्रतिष्ठित पत्रिकाओं और लेखकों से है कि वे इस दिशा में भाषा के परिनिष्ठित रूप का ही प्रयोग करेंगे। 'हंस' के महत्व के विषय में कुछ कहने की आवश्यकता नहीं है-अभिनव ओझा के सुझावों के बावजूद वहां भाषा की ओर खास ध्यान नहीं दिया जाता है। 'हंस' के अप्रैल 2005 अंक में मनीषा की टिप्पणी के कुछ वाक्यांश द्रष्टव्य हैं...'उपन्यास है कॉलगर्ल जिसे बहुत चर्चा मिली, ये चर्चा नाम और विषय को लेकर नहीं थी।' 'ये साहित्यकार (एकवचन) ही नहीं, एक महान संपादक व ज्ञानी सज्जन भी हैं।' 'अब ये भी न कहिए कि ये सब पश्चिम के चोंचले हैं।' स्पष्टतः लेखिका को तनिक भी पता नहीं है कि 'यह' और 'ये' में कोई अन्तर भी है।

'तद्भव' हिन्दी की प्रतिष्ठा प्राप्त पत्रिका है और इसके सम्पादक अखिलेश महत्वपूर्ण कथाकार। कुछ ही समय में पत्रिका ने अपनी गौरवपूर्ण स्थिति बना ली है। इसकी 'स्टार' लेखिका नीलाक्षी सिंह, जिसकी 'एक था बुझवन...' कहानी पुरस्कृत भी हुई, की भाषा के कुछ उदाहरण (तद्भव6) द्रष्टव्य हैं: 'इसका कारण ये कि अपने बनाए घरों के...', सबसे दिलचस्प ये कि किसन अन्तिम सीन...', 'ये औरत सब कुछ...', 'पहली

खबर ये कि ठाकुर...’, ‘दूसरी ये कि बेटवन...’, ‘ये पहला ठेका’, ‘ये भी अजब था’ ऐसे उदाहरणों से भाषा भरी पड़ी है, ‘बमुश्किल’, ‘प्रमाणिक’ जैसे और भी अशुद्ध प्रयोग हैं। पर, फिलहाल बात ‘यह’ और ‘ये’ पर केन्द्रित है। क्या कहानी-पुरस्कार में भाषागत अव्यवस्था का किंचित् भी दबाव नहीं है?

बोलचाल में, जहां पात्र की बात उसके मुख से ही कहलाई जाए, शायद ‘यह’ की जगह ‘ये’ का औचित्य बन भी जाए, मगर लेखकीय कथन में यह स्वीकार्य नहीं हो सकता। ‘वागर्थ’ की भाषा काफी स्तरीय रही है, अशुद्धियों के लिए वहां कम ही जगह है, लेकिन कभी-कभी लेखकों की इस त्रुटि का निराकरण वहां भी नहीं हो पाता है, यथा-‘वागर्थ-19’ में योगेश अटल के लेख में कई जगह ‘ये’ का घपला हुआ है। ‘अक्षर पर्व’ में ललित सुरजन का सम्पादकीय पढ़ने लायक होता है, पर उसमें प्रायः ‘यह’ की जगह ‘ये’ का ही प्रयोग होता है।

प्रतिष्ठित लेखकों में भी ‘यह’ और ‘ये’ की यह असावधानी बहुत खलती है। केवल कुछ कृतियों से एक-दो उदाहरण दिए जा रहे हैं-‘ये दीन-हीनता झटक, उतार फेंक केंचुल’ (आवां, पृ.55), ‘ये पैसा कई तरह से कमाया जाता’ (हिडिंब, पृ.63), ‘ये क्या कि लड़के को ही सब कुछ...’ (मुझे बाहर निकालो, पृ. 21) आदि। इन उदाहरणों से स्वतः स्पष्ट है कि ‘यह’ को ‘ये’ लिखने की बीमारी कितना संक्रामक रूप ग्रहण कर रही है। कुछ लेखक जो हिन्दी में लिखते हुए भी उर्दू बहुत या कहे अरबी-फारसी की तत्सम शब्दावली से भरपूर भाषा का प्रयोग कर रहे हैं, उनमें तो ‘ये’ का प्रयोग धड़ल्ले से हो रहा है। हबीब तनवीर के हालिया प्रकाशित नाटक ‘एक थी हिपेशिया’ इसका एक उदाहरण है। ‘यह’ एकवचन और आदरवाची के रूप में ही प्रयुक्त होने चाहिए।

आवश्यकता इस बात की है कि पत्रकारिता में बैठे लोग सावधानीपूर्वक भाषा का प्रयोग करें, अपने अध्ययन के आधार पर भाषा के परिनिष्ठित रूप का अधिग्रहण कर उसे सजाएँ-सँवारे, उसका संवर्द्धन करें। इसमें सन्देह नहीं कि भाषा में युगानुरूप परिवर्तन घटित होंगे ही, किन्तु उन्हें भाषा विशेष की प्रकृति के अनुरूप ही होना होगा, वे उसमें सुपाच्य बन जाएँ, उसकी स्वरूप विकृति का कारण न बनें।

समकालीन भारत में संस्कृति और जनसंचार

शर्वेश पाण्डेय*

समकालीन भारतीय संस्कृति के समक्ष जनसंचार की प्रौद्योगिकी एक चुनौती के रूप में उपस्थित हुई है। यद्यपि संस्कृति के आदि रूप पर विचार करें तो पाते हैं, कि उसके मूल में संचार ही है। संस्कृति के एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तांतरित होने में संचार की आवश्यकता पड़ती है। इस तरह से देखा जाय तो संचार का संस्कृति से बहुत पुराना सम्बन्ध है। वर्तमान में संस्कृति और जनसंचार के सम्बन्धों की पड़ताल नए सिरे से प्रारम्भ करने के पीछे मूल कारण संचार माध्यमों का तकनीकी रूप से विकसित होना है। जनसंचार के नवीन माध्यमों में प्रचार और संचार की क्षमता अद्भुत रूप से विस्तार पा गई है। तकनीकी विकास ने जनसंचार माध्यमों की संचार क्षमता को काफी बढ़ा दिया है। इसके परिणामस्वरूप ही सूचना-क्रान्ति और सूचना विस्फोट की बात की जा रही है। इस तकनीकी विकास की ही देन है कि वैश्विक गाँव की संकल्पना का विकास हो रहा है। ऐसे में संस्कृति के समक्ष जनसंचार का एक चुनौती रूप में खड़ा होना स्वाभाविक ही है। इसलिए समकालीन भारत में संस्कृति और जनसंचार के सम्बन्धों की नए सिरे से पड़ताल अवश्यंभावी हो जाती है।

जनसंचार माध्यमों ने ऐसी स्थिति उत्पन्न कर दी है कि विश्व के किसी कोने में होने वाली घटना पूरे विश्व के लिए चर्चा का विषय बन जाती है। मानव के सांस्कृतिक विकास की परम्परा के ऊपरी सतहों तक ही हमारा अध्ययन पहुँच पाया है और ऐसे में अनेक पक्ष ऐसे छूट जाते हैं जिनकी तरफ हमारा ध्यान ही नहीं जाता। हम जानते हैं कि मानव विकास परम्परा के प्रत्येक मोड़ पर कोई-न-कोई क्रान्ति अवश्य हुई है। इन क्रान्तियों के स्रोतों और जटिल अंतःसम्बन्धों का विश्लेषण अभी तक बारीकी से नहीं किया गया है। मानव जीवन को व्यापक पैमाने पर प्रभावित करने वाली अनेक क्रान्तियों की तरफ हमारा ध्यान नहीं गया है। उदाहरण के लिए

* डॉ. शर्वेश पाण्डेय, प्रवक्ता हिन्दी, डी.सी.एस.के.पी.जी.कालेज, मऊ; पत्र व्यवहार का पता एवं आवास: 134, गालिबपुर, मऊनाथ भंजन, मऊ-275101, मोबाइल नं.- 9415219227

प्रौद्योगिकी के कारण संस्कृति को मिलने वाली गति एवं दिशा की ओर देखें तो हमारी जानकारी सन्तोषजनक नहीं है। विचार एवं जनसंचार की संस्कृति में भूमिकाओं को देखें तो हम पाते हैं कि हमारी पहुँच बहुत सीमित है। जनसंचार का क्षेत्र अनेक बौद्धिक चुनौतियों का क्षेत्र है। इस क्षेत्र में हमारी उपलब्धियाँ सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दोनों दृष्टियों से उपयोगी होंगी।

सीमित संचार साधनों के काल में मानव समाज छोटी-छोटी स्वतन्त्र इकाइयों में विभाजित था, लेकिन जनसंचार क्षेत्र की क्रान्ति ने अभूतपूर्व विकास करके समसामयिक विश्व को संकुचित करके नजदीक ला दिया है। जनसंचार माध्यमों में होने वाली प्रत्येक क्रान्ति ने मानव जीवन में परिवर्तन उपस्थित किया है। जिनका सूक्ष्म विश्लेषण और मूल्यांकन अभी तक नहीं हुआ है। इसके जो भी प्रयास हुए हैं वे सीमित एवं सतही हैं। जीव-संरचना की आंतरिक प्रक्रिया को देखें तो उसमें भी एक संचार की प्रक्रिया मिलेगी। कोशिकाएँ स्वयं एक-दूसरे को सन्देश देने में समर्थ हैं। इसका स्वतंत्र अध्ययन कोशिकीय संचार के तहत किया जाता है। जिसमें जीवित कोशिकाएँ हार्मोनों एवं तंत्रिका-तंतुओं द्वारा संवाद करती हैं। यह संचार उस सूचना संकलन पर आधारित होता है जो न्यूक्लीक अम्ल के अणुओं में निहित होता है। कोशिकीय संचार के क्षेत्र में होने वाले अध्ययन धीरे-धीरे यथार्थ और मन के सम्बन्धों के दार्शनिक सत्य को हल करने की ओर अग्रसर हैं। संचार मानव के अतिरिक्त अन्य जीव भी करते हैं। उनके संचार के तीन प्रमुख माध्यम होते हैं रासायनिक द्रव्यों का स्राव, अंग-संचालन और ध्वनियाँ। उदाहरण के लिए न्यू गिनी में उड़नेवाली गिलहरी से मिलता-जुलता **शुगर ग्लाइडर** रासायनिक स्रावों से अपना सन्देश अपनी जाति के अन्य सदस्यों तक संप्रेषित करता है। इसके सिर के सामनेवाले भाग में एक ग्रन्थि होती है जिसका स्राव नर एवं मादा को एक-दूसरे से जोड़ता है। उसकी गन्ध से नर अपनी मादा को और मादा नर को पहचानता है। साथ ही यह अन्य सदस्यों के लिए एक चेतावनी भी होती है कि बने हुए जोड़े न टूटें। दूसरा उदाहरण जाँची-परखी गई मधुमक्खी की संचार व्यवस्था का है। उनकी राजकुमारी जब अपनी सुहागरात की उड़ान पर रहती है तब वह ऐसी भाप छोड़ती है जिसकी गन्ध पुंमक्षिका (ड्रोन नर) को कामातुर कर उनकी ओर आकृष्ट करती है। वह छत्ते के समीप नृत्य करती है जिसके दो अर्थ हो सकते हैं। पहला कि उसने कोई नया खाद्य भण्डार खोजा है और दूसरा यह कि उसे नया छत्ता बनाने के लिए कोई उपयुक्त स्थान दिखा है। इस नृत्य में वह एक सेकेण्ड में तेरह से पन्द्रह बार उड़कर अँग्रेजी आठ (8) का आकार बनाती है। फिर भी संचार के धरातल पर मानव को जितनी शक्ति प्राप्त है उतनी किसी अन्य प्राणी को नहीं। वह अपनी समृद्ध भाषा के माध्यम से संचार को शक्ति प्रदान करता है।

सीधे खड़े हो सकने की योग्यता ने मानव के मस्तिष्क की संरचना को तार्किक एवं बीजगणितीय मनोवृत्ति से समृद्ध कर दिया है। विकास के प्रत्येक चरण में मानव

ने अपनी इस मनोवृत्ति और उसकी अभिव्यक्ति को समृद्ध किया है। इस तरह से मानव ने कार्य-कारण सम्बन्ध स्थापित करने के अपने प्रारम्भिक प्रयासों में सफलता प्राप्त की है और प्रतीकों की बोधगम्यता विकसित कर उसने चिन्तन और अभिव्यक्ति के क्षेत्र का विस्तार किया है। मानव के कण्ठ ने उसकी ध्वनि अभिव्यक्ति क्षमता को सक्षम बनाया है। इस तरह से वह विचार और उसको अभिव्यक्त करने में सफल हुआ है। उन दोनों क्षमताओं की विकास प्रक्रिया से ही मानव के सामाजिक जीवन में मूलभूत परिवर्तन हुए हैं। कण्ठ ने मानव को ध्वनिगत अभिव्यक्ति में सक्षम बनाया तो लिपि के विकास ने उसको अपनी अभिव्यक्ति को व्यापक आयाम दिया, जिससे मनुष्य अपनी अभिव्यक्ति को देश और काल की सीमाओं के पार ले जाने में सक्षम हुआ। लिपि के अभाव में संचार सीमित ही रहता। इसने संवाद को स्थायित्व प्रदान किया। मौखिक परम्परा में स्मरण शक्ति की भूमिका महत्वपूर्ण थी। जिसके माध्यम से लोक साहित्य और शास्त्रीय साहित्य को बहुत समय तक जीवित रखा गया था। लिपि ने मौखिक को लिखित रूप देने की मानव की क्षमता को सम्भव बनाया, यह मानव की संस्कृति के लिए एक महत्वपूर्ण उपलब्धि रही। मानव की तीक्ष्ण एवं केन्द्रित हो सकने वाली दृष्टि एवं उसके अंगूठे की संरचना और अंगूठे तथा शेष उँगलियों के सहयोग ने लिपि के आविष्कार और प्रचलन को सम्भव बनाया। इस तरह से प्रौद्योगिकी विकास के साथ मानव के संचार का क्षेत्र क्रमशः विस्तृत होता गया।

भाषा के विकास को मानव संस्कृति के विकास से जोड़कर देखना चाहिए। जिस प्राइमेट वर्ग ने मानव बनने की राह अपनाई उसने पूर्ण मानव बनने से पहले ही संस्कृति के कुछ तत्त्वों को विकसित कर लिया था। इसमें पहला स्तर प्रतीक व्यवस्था का है, उसने मानव की अभिव्यक्ति को सीमित शक्ति प्रदान की। मानव का एक भी ऐसा समूह नहीं मिलेगा जिसमें भाषा न हो, भले ही उसके पास सीमित शब्द भण्डार ही क्यों न हो। अमूर्त चिन्तन और सूक्ष्म अभिव्यक्ति के लिए यह संख्या भले ही थोड़ी हो लेकिन इस सीमित शब्द संख्या ने सांस्कृतिक संचार की अद्भुत क्षमता प्रदान की। लिपि का आविष्कार संचार क्षेत्र दूसरी बड़ी क्रान्ति थी या कहें कि दूसरी प्रौद्योगिकी सफलता थी। लिपि ने मानव के ज्ञान-विज्ञान, सूक्ष्म दार्शनिक चिंतन एवं साहित्य को स्थायित्व प्रदान किया। पत्तों, मिट्टी की पतली ईंटों, पत्थर चमड़े, वस्त्र आदि पर लिखकर मानव ने अपने संचित ज्ञान को आने वाली पीढ़ियों के लिए बचाने का प्रयास किया जिसके परिणामस्वरूप लिपिबद्ध ज्ञान समाज के एक छोटे से वर्ग के हाथ में आ गया और उससे समाज की संरचना में अनेक परिवर्तन हुए।

संचार के क्षेत्र में चौथी क्रान्ति मुद्रण की तकनीक और कागज की तकनीक ने कर दिया। कागज के आविष्कार का श्रेय चीन के साईं लुन को दिया जाता है, जिसने सन् 106 ई. में वृक्षों की कुटी हुई छाल, सन, पुराने कपड़े और पुराने मछली के जालों के मिश्रण से कागज बनाया। सातवीं सदी में यह कला जापान गई और वहाँ बौद्ध

भिक्षुओं ने मलबरी वृक्ष की छाल से कागज बनाना प्रारम्भ कर दिया। यहीं सन् 770 ई. में मुद्रण का आविष्कार हुआ और दस लाख प्रार्थना-पत्र छापे गए थे, जिसमें छह वर्ष का समय लगा था। चल-टाइप के आविष्कार ने मुद्रण की तकनीकी को नया रूप दिया, जिसका श्रेय जर्मनी के **गटेनबर्ग** को जाता है, जिसने संभवतः सन् 1400 से 1468 के बीच चल-टाइप का आविष्कार किया। मुद्रण तकनीकी के विकास ने पुस्तकों, समाचार-पत्रों के प्रकाशन का रास्ता खोलकर उन्हें सर्वजन सुलभ बनाया। इसने विचारों की क्रान्ति की शुरुआत कर दी।

मुद्रण तकनीकी के विकास के बाद संचार के क्षेत्र में बीसवीं सदी में होने वाले आविष्कारों, उदाहरण स्वरूप रेडियो के आविष्कार, ने संचार की संभावनाओं को व्यापक आयाम उपलब्ध कराया। मारकोनी ने सन् 1895 में बिना तार के संकेत भेजने और उन्हें ग्रहण करने के सफल प्रयोग और 1896 ई. में लंदन में रेडियो का पेटेंट कराकर संचार के क्षेत्र में एक नए युग का शुभारंभ किया। इसी तरह इंग्लैण्ड के गेयर्ड और अमेरिका के **जेनकिंस** ने सन् 1923 ई. में टेलीविजन के माध्यम से चित्र सम्प्रेषण करने के प्रयास के साथ ही 1925 ई. में ऐसी क्षमता अर्जित की। तार, टेलीफोन, कैमरा, टेपरिकार्डर, वीडियो, इंटरनेट, मोबाइल आदि आविष्कारों के फलस्वरूप समाज एवं संस्कृति में महत्वपूर्ण परिवर्तन आये। वर्तमान में प्रौद्योगिकी और संचार दोनों एक-दूसरे के अविभाज्य अंग बन गए हैं जो मानव की शारीरिक और मानसिक क्षमताओं को दिन-प्रतिदिन विस्तारित करते जा रहे हैं।

वर्तमान समय में समाजीकरण की प्रक्रिया परिवार, समरुचि समूह और स्कूल के अतिरिक्त दैनिक समाचार-पत्रों, पत्रिकाओं, रेडियो, फिल्म, टेलीविजन, इंटरनेट आदि के माध्यम से सम्पादित हो रही है और आज यह कह सकना कठिन हो गया है कि ये माध्यम कैसे अपने सन्देशों से उभरते हुए व्यक्तित्व को प्रभावित करती हैं। जनसंचार के विभिन्न स्रोतों से आए हुए संदेश हमेशा एक-दूसरे के पूरक नहीं होते, कई बार विरोधी होते हैं।

जनसंचार हमारी सामाजिक गतिविधियों पर निगरानी रखता है और साथ ही व्यक्ति और समाज के सञ्ज्ञानात्मक धरातल का विस्तार भी करता है। नित् नई सूचनाओं से हमारे मस्तिष्क का आधार विस्तृत होता है। जनसंचार एक तरफ मनोरंजन उपस्थित करता है तो दूसरी तरफ वह समाज में प्रतिष्ठा बढ़ाने का भी प्रमुख माध्यम है; उसकी इस क्षमता का उपयोग समाज में नए मूल्यों को प्रतिष्ठित कराने में किया जा सकता है। जनसंचार के माध्यम से समाज के सामने नए जीवन का आकर्षक विकल्प प्रस्तुत करके समाज को जड़ता से मुक्त कराया जा सकता है। जनमत का निर्माण करके समाज को प्रगति के पथ पर आगे ले जाया जा सकता है।

समकालीन भारत में समाज को आधुनिक बनाने के लिए मान्यताओं, मूल्यों और कार्य-शैलियों को एक नया मोड़ दिया जा सकता है। विकास की प्रक्रिया का

सूत्रपात मानव के मस्तिष्क में होता है और उसमें परिवर्तन लाने के लिए नई तार्किकता और विवेकशीलता लाने की जरूरत पड़ती है। यह सब वैचारिक परिवर्तन समय में यदि आप टेलीविजन के विभिन्न चैनलों को देखें तो पाएँगे कि प्रत्येक चैनल कोई-न-कोई चर्चा या बौद्धिक-विमर्श कार्यक्रम निश्चित प्रस्तुत करता है। उसके विविध नाम हैं—वाद, चर्चा, मुद्दा, आदि। इन सभी कार्यक्रमों में समय-समय पर समाज एवं राष्ट्र के समक्ष उपस्थित होने वाले विषयों पर चर्चा की जाती है। उदाहरण के लिए यौन शिक्षा, पत्रकारिता में अश्लीलता, शिक्षा पाठ्यक्रमों में होने वाले परिवर्तनों, निर्वाचन की प्रक्रिया, राजनीति का अपराधीकरण, न्यायिक सक्रियता आदि विषयों को लेकर समय-समय पर विभिन्न टेलीविजन चैनल कार्यक्रम प्रस्तुत करते हैं और उसमें जनता की आवाज को भी भागीदारी कराने की कोशिश करते हैं।

स्वाधीनता के पचास वर्षों में जनसंचार माध्यमों ने अपना काफी विस्तार किया है फिर भी आज देश की सीमित जनसंख्या तक ही इसकी पहुँच बन पाई है। देश की अधिसंख्य आबादी गाँवों में रहती है और आज भी गाँवों में इनकी पहुँच सीमित है। जनसंचार के कार्यक्रम और उनकी विषय-वस्तु अभी नगरों एवं समृद्ध वर्ग की अभिरुचियों को केन्द्र में रखकर ही बन रही है। सूचना और विश्लेषण में जनसंचार माध्यम स्थानीय और क्षेत्रीय के स्थान पर अन्तरराष्ट्रीय और राष्ट्रीय प्रश्नों को कहीं अधिक स्थान और महत्त्व दे रहे हैं। जनसंचार माध्यमों ने विकास के प्रश्नों एवं समस्याओं की तरफ ध्यान अवश्य दिया है लेकिन इनको लेकर साहसिक एवं काल्पनिक प्रयोगों का अभी अभाव ही है। दैनिक और सप्ताह में दो या तीन बार छपनेवाले समाचार-पत्रों की संख्या सन् 1970 में कुल मिलाकर सिर्फ चौरासी लाख बाईस हजार प्रतिष्ठा थीं। देश में 1971 ई. में 69 रेडियो प्रसारण केन्द्र थे, जिन्हें 138 ट्रांसमीटर उपलब्ध थे, जिनमें से कई बड़ी शक्तिवाले भी थे। पैंतीस वर्ष पूर्व की स्थिति में सुधार तो बहुत हुआ, लेकिन देश की सांस्कृतिक विविधता, भाषाओं और बोलियों के अन्तर और देश के विभिन्न वर्गों और हित-समूहों को देखते हुए इनकी संख्या अभी-भी बहुत कम है। विश्व के छोटे-छोटे देशों के पास हमारी तुलना में प्रसारण क्षमता अभी-भी बहुत अधिक है। जापान जैसे देश में 1968 ई. में 652 ट्रांसमीटर थे। आज से कुछ वर्ष पूर्व मैक्सिको में 528, कनाडा में 392, अमेरिका में 6337 ट्रांसमीटर थे।

फिल्म निर्माण के क्षेत्र में भारत बहुत आगे है लेकिन अपने देश के भौगोलिक विस्तार और जनसंख्या के हिसाब से सिनेमाघरों की संख्या आज भी बहुत कम है। टेलीविजन ने पिछले चौबीस वर्षों में काफी प्रगति की है, लेकिन आज भी उसका ब्रासवैण्ड सिर्फ बड़े शहरों में ही उपलब्ध है और उसका सीमित विस्तार ही हुआ है। टेलीविजन के विभिन्न चैनलों की पहुँच आज भी छोटे शहरों तक ही सीमित है, कस्बों और गाँवों में उसका सीमित प्रसार ही हो पाया है। इंटरनेट की स्थिति तो आज भी

बहुत दयनीय है यद्यपि इस क्षेत्र में निजी क्षेत्र का प्रवेश एक शुभ संकेत है। आज छोटे शहरों में इंटरनेट की पहुँच नहीं बन पाई है। यदि कुछ शहरों में पहुँचा भी है तो इतना महँगा और धीमी गति है कि उसका पहुँचना और न पहुँचना दोनों ही बराबर है। एक छोटी-सी सूचना प्राप्त करने में घण्टों समय लग जाता है और सूचनाएँ तो आप प्राप्त ही नहीं कर सकते हैं।

डॉ. श्यामाचरण दुबे का मानना है कि अभी तक जनसंचार माध्यमों को लेकर ठीक से शोध कार्य हुए ही नहीं हैं, कुछ सर्वेक्षण हुए भी हैं तो वे भी सीमित स्तर पर ही। वे कहते हैं कि कई साल पहले जब चीन ने भारत पर आक्रमण किया था, तब उन्होंने ग्रामीण भारत में आक्रमण सम्बन्धी सूचना के विभिन्न पक्षों पर एक राष्ट्रवापी सर्वेक्षण कराया था। उसके परिणाम स्वयं उन्हें अनपेक्षित लगे थे। फिर भी आक्रमण के कुछ ही दिन बाद हुए इस अध्ययन से पता चला कि अलग-अलग प्रांतों में 58.3 प्रतिशत से लेकर 93.8 प्रतिशत लोगों को स्थिति की सन्तोषजनक जानकारी थी। इसी प्रकार का एक सर्वेक्षण भारत-पाक युद्ध के संदर्भ में डॉ. योगेश अटल ने कराया था, जिसके परिणाम भी उनके सर्वेक्षण के परिणामों से मिलते-जुलते थे। समाचार-पत्रों में प्रकाशित सामग्री और रेडियो के कार्यक्रमों का प्रामाणिक वस्तु सामग्री विश्लेषण अभी नहीं हुआ है। समाजविज्ञान एवं मनोविज्ञान के छात्रों ने कुछ सीमित अनुसंधान इस विषय में किया है, लेकिन निश्चय ही उनका ध्यान भी नगरों और समृद्ध वर्ग तक ही अधिक रहा, देश के बहुजन समाज की ओर कम। युवा पीढ़ी के नाम पर जो पत्रिकाएँ प्रकाशित की जा रही हैं। वह तो एक खास मॉडर्न वर्ग तक ही सीमित हैं, उससे देश समग्र युवा पीढ़ी का कोई सरोकार नहीं है। समाचार-पत्र एवं पत्रिकाओं के पाठक वर्ग गाँवों में कम ही हैं, जिससे उनके लिए ये जनसंचार माध्यम कोई महती भूमिका नहीं अदा कर पा रहे हैं। रेडियो की युववाणी कार्यक्रमों में भी देश के युवा वर्ग की दो भिन्न सांस्कृतिक धाराएँ स्पष्ट देखी जा रही हैं। रेडियो का प्रसार आज गाँवों में भी प्रचुर मात्रा में हो गया है, लेकिन फिर भी उसके कार्यक्रमों में नगर और समृद्ध वर्ग की अभिरुचि का विशेष ध्यान दिया जाता है। यद्यपि गाँवों की कुछ समस्याओं को लेकर कार्यक्रम प्रसारित हो रहे हैं, लेकिन अभी भी गाँवों की समग्र अभिव्यक्ति रेडियो पर नहीं हो रही है। टेलीविजन की स्थिति यद्यपि आज काफी प्रभावी हो गई है लेकिन टेलीविजन की गाँवों में पहुँच की एक सीमा है। टेलीविजन का विस्तार आज छोटे-छोटे शहरों तक हो गया है और गाँवों में इसकी पहुँच हो गई, लेकिन अभी भी टेलीविजन का विस्तार जिस स्तर पर शहरों या कस्बों में हुआ है, गाँवों में उस स्तर पर टेलीविजन का विस्तार नहीं हुआ है। विस्तार के धरातल पर अभी तमाम निजी चैनलों की पहुँच से गाँव का मानव आज भी काफी दूर है। डी.टी. एच.ने इसकी संभावनाओं को बढ़ाने की कोशिश जरूर की है, लेकिन अभी उसकी भी पहुँच गाँवों तक नहीं हो पाई है। इससे भविष्य में गाँवों तक पहुँचने की संभावनाएँ

निश्चित बनी हैं। टेलीविजन के कार्यक्रमों की तरफ यदि अपना ध्यान दौड़ाएँ तो पाएँगे कि अभी भी टेलीविजन के कार्यक्रमों के केन्द्र में महानगरीय या शहरी जीवन ही है। इसमें गाँवों के जीवन एवं उनकी समस्याओं की अभिव्यक्ति नहीं हो पा रही है। ठीक है कि संयुक्त परिवार की अवधारणा को लेकर कुछ नए धारावाहिकों का प्रसारण टेलीविजन पर हो रहा है। उदाहरण के लिएकसम से, सात फेरे बेटियाँ आदि। इनमें अभिव्यक्त होने वाला जीवन का आम संघर्षरत आदमी का नहीं है, अपितु बड़े-बड़े घरानों या समाज के एक उच्च तबके का ही जीवन अभिव्यक्ति पा रहा है। इसके भी मानकों को देखें तो उनके जीवन में कुछ ऐसी अभिव्यक्तियाँ हो रही हैं जिनसे समाज में विघटन की स्थिति पैदा हो रही है। किसी निजी चैनल पर दिखाए जाने वाले धारावाहिकों को देखें तो उसमें महिलाएँ अपने घर में विवाद पैदा होने के बाद एक घर को छोड़कर दूसरे उसी टाइप के महल में प्रवेश करती हैं और उस घर तक जाने के लिए उनके पास चमचमाती महँगी गाड़ी होती है। अब यदि ऐसे धारावाहिकों से कोई आम ग्रामीण अनुकरण या सीख ले और वैसी परिस्थितियों में कोई महिला घर छोड़कर सड़क पर आ जाए तो आप कल्पना कर सकते हैं कि उसके साथ समाज किस तरह का सलूक करेगा। वास्तविक धरातल टेलीविजन के विस्तार के बावजूद आज भी उसकी विषयवस्तु गहरी एवं एक खास वर्ग के लिए ही प्रस्तुत की जा रही है, जो उनको देखे बिना भी वही जीवन प्रणाली अपना रहा है। हाँ यह जरूर है कि उनको देखकर मध्यम एवं निम्नवर्गीय समाज की महिलाओं और पुरुषों में उन भौतिकताओं के प्रति आसक्ति और हवस बढ़ रही है जिसका असर हम दैनिक जीवन में घटने वाली घटनाओं में देख सकते हैं।

समाचार-पत्र, पत्रिकाएँ, रेडियो एवं टेलीविजन ने अपने समाचारों और घटना-विश्लेषण में स्थानीय और क्षेत्रीय की तुलना में राष्ट्रीय एवं अन्तरराष्ट्रीय को अधिक स्थान और महत्त्व दिया है। इससे राजनीतिक समाचारों और विश्लेषणों की अधिकता तो हुई लेकिन अन्य पक्षों में जनसंचार की विशेषज्ञता का अधिक विकास नहीं हुआ है। फलस्वरूप जनसंचार माध्यमों का स्थानीय और क्षेत्रीय व्यक्तित्व विकसित नहीं हो पाया है और उनकी स्थानीय और क्षेत्रीय उपयोगिता समाज के विकास में नहीं हो पाई है। देश के किसी कोने की परम्परा और उनके विश्वासों को दिखाकर लोगों में कौतूहल तो पैदा किया जा सका है, लेकिन वहाँ तक लोगों की पहुँच के अभाव में उनकी तार्किकता का विकास नहीं हो सका है। सामान्य दर्शक ने ऐसे विषयों को अपने जीवन के तात्कालिक संदर्भों से जुड़ा हुआ नहीं पाया और इससे उसके जीवन पर बहुत प्रभाव नहीं पड़ा। सहभागी होने की अनुभूति उसे बहुत कम हुई है। जनसंचार माध्यमों को वैकासिक संचार माध्यम के रूप में हम विकसित नहीं कर पाए हैं। कृषि विकास, सामुदायिक विकास और परिवार नियोजन के क्षेत्रों में कार्यक्रमों को समय तो दिया गया है लेकिन उनमें साहसिक और कल्पनाशील प्रयोगों

की कमी ही दिखाई पड़ती है। शिक्षा के पूरक माध्यम के रूप में रेडियो और टेलीविजन का उपयोग प्रारम्भ किया गया है, लेकिन अभी उसका ऐसा स्तर नहीं बन पाया है जिससे उसका व्यापक सामाजिक प्रभाव पड़ सके। जनसंचार माध्यमों को देश के विकास से जोड़ने के लिए आवश्यक है कि उसके स्वरूप पर विचार किया जाय। इसके लिए आवश्यक होगा कि जनसंचार माध्यमों के लिए एक नई संचार नीति बनाई जाए।

जनसंचार माध्यमों की वैकसिक संभावनाओं की पूरी उपयोगिता के लिए आवश्यक है कि जनसंचार माध्यमों की व्यवस्था का पुनर्गठन किया जाय। डॉ. श्यामाचरण दुबे ने जनसंचार माध्यमों की व्यवस्था के पुनर्गठन एवं व्यूह रचना की आवश्यकता को कुछ स्तरों पर समझने की कोशिश की है। इसमें पहला तत्त्व है जनसंचार माध्यमों की पहुँच को गाँवों तक विस्तारित करने का। दूसरी आवश्यकता है जनसंचार साधनों के समन्वित और बहुसूत्रीय विकास की। जनसंचार के अतिरिक्त हमारा ध्यान उन पूरक जनसंचार-माध्यमों की ओर भी जाना चाहिए जो विभिन्न धरातलों पर संवाद की स्थिति उत्पन्न कर सकें। हम जानते हैं कि एक ही सूत्र से भेजे गए सन्देश का प्रभाव कम पड़ता है, जबकि कई सूत्रों से दिए गए एक ही सन्देश का प्रभाव कहीं अधिक फलप्रद होता है। उनकी उपयोगिता बढ़ाने के लिए इन दोनों प्रकार के साधनों में तालमेल और सावयवी सम्बन्ध विकसित होना चाहिए। तीसरी आवश्यकता है जनसंचार के प्रतिमानों को बदलने की। आज समय की जरूरत है कि जनसंचार माध्यमों के प्रतिमान को भारत की प्रकृति के अनुकूल परिवर्तित किया जाय। एक गरीब और पिछड़े देश में जनसंचार माध्यमों को समृद्ध वर्ग के मनोरंजन और उपभोग का साधन-मात्र नहीं रहने दिया जा सकता है। निश्चय ही जनसंचार माध्यमों का उपयोग एक व्यापक सामाजिक प्रयोजन के लिए किया जाना चाहिए। उसके लिए आवश्यक हो जाता है कि जनसंचार को नौकरशाही के परिवेश से मुक्त कराकर एक स्वायत्त वातावरण उपलब्ध कराया जाय।

अब जनसंचार माध्यम इतने विकसित हो चुके हैं, कि उनके सामान्य संचालन के लिए भी विशेषज्ञों की आवश्यकता पड़ने लगी है, जिनका उत्तरदायित्व हो जाता है कि वे जनसंचार माध्यमों की क्षमता का विकास और उपयोग व्यापक सामाजिक प्रयोजनों के लिए करें। ये विशेषज्ञ जनसंचार के नए-नए प्रयोग और नई-नई शैलियाँ विकसित करेंगे और संदेशों को वहन करने वाले नए मुहावरे और नई प्रविधि का विकास करेंगे। आज तक संचार-माध्यमों के प्रभाव का सही वैज्ञानिक मूल्यांकन कम ही हुआ है, जो किया जाना चाहिए।

समीक्षा

गंगावतरण : पर्यावरण की प्रतिबद्धता**

कामेश्वर पंकज*

जल संकट 21वीं सदी की विषम त्रासदी है, इसे सारा विश्व महसूस करने लगा है। कवि किशोरी लाल व्यास ने अपने खण्ड काव्य 'गंगावतरण' में इस एहसास को मिथकीय शैली में प्रस्तुत किया है। उस काव्य की पौराणिक कथा आधुनिक युग की विश्वसनीयता के साथ प्रस्तुत है। यह कवि की निपुणता है। काव्य की भूमिका में कवि ने लिखा है :

“पुराण कथा को नए संदर्भ में प्रस्तुत करना ही हमारा ध्येय रहा है।... इक्कीसवीं सदी जल संकट की सदी होगी...आने वाला विश्व भारी जल संकट का सामना करेगा। भावी युद्ध जल के लिए होगा। ऐसे में भगीरथ की गाथा को याद करना उसे काव्य रूप देना और उसे एक महान 'जल-नायक' के रूप में स्थापित करना मेरा अभिप्रेत रहा है। भावी पीढ़ियों के लिए यह एक जल संदेश है।”

कवि ने भूमिका (गंगावतरण) में गंगा की पवित्रता, भारतीय जन-जीवन में गंगा की महत्ता, भगीरथ की तपस्या का मिथक आदि की मीमांसा आधुनिक दृष्टिकोण से की है। उनका मानना है कि पुरा कथा में यह तथ्य प्रच्छन्न है कि भगीरथ की तपस्या वस्तुतः गहन चिंतन, अध्ययन सर्वेक्षण, जन-संगठन, श्रम साधन और निपुण प्रबंधन है जिसके द्वारा भगीरथ गंगा को भारत के सूखे प्रदेश में उतार लाये। कवि का यह कथन पूरे काव्य में पर्यावरण की चिंता बनकर व्याप्त है। वस्तुतः जब कवि अपनी रचना की प्रासंगिकता पर प्रकाश डालता है तो स्वयं अपने कथ्य की परिधि खींच देता है। तब उस काव्य की समीक्षा के लिए कथ्य पर नवीन प्रकाश डालने के लिए कम ही अवकाश रहता है। समीक्षक केवल इतना रहता है कि कथ्य की प्रस्तुति कैसे हुई है, कथ्य का युगीन चेतना से कितना साम्य है। कवि किशोरी लाल व्यास स्वयं उच्च श्रेणी के विद्वान समीक्षक एवं पर्यावरणविद के रूप में प्रतिष्ठित हैं। इनके काव्य में इनके व्यक्तित्व की छाप है।

आठ सर्ग के इस खण्ड काव्य के प्रथम दो सर्ग क्रमशः दुर्भिक्ष और सूर्य देवता

* भाषा संकाय, हिन्दी विभाग, के.बी. झा. महाविद्यालय, कटिहार, (बिहार), फोन नं. 06452-224184 (आ)

** गंगावतरण (काव्य), डॉ. किशोरी लाल व्यास 'नीलकण्ठ', प्रकाशक : इन्दूर हिन्दी समिति, महेश्वरी नगर, हबसीगुड़ा, हैदराबाद, प्रथम-संस्करण 2006, पृष्ठ 104, मूल्य :100 रुपये।

को एक पर्यावरण विद की चिंता से लिखा गया है। कवि यह मानता है कि दुर्भिक्ष का मूल कारण है जलाभाव। इसमें कवि अन्नाभाव और भूख से अधिक जलाभाव पर चिंतित है, जलाभाव में दुर्भिक्ष होना तो एक कार्य है। ऐसी अनेक आपदाएँ जलाभाव से हो सकती हैं। कवि की यह चिंता बहुत ही प्रासंगिक है। कवि का मानना है कि सृष्टि के सभी तत्त्वों में जल आनंदन और रस का तत्त्व है जल से ही पेड़ हरे हैं, बादल हैं, जंगल हैं, जीव हैं, पृथ्वी की हरियाली है। जल है तो पृथ्वी उर्वर है, जल है तो जंगल है, जीव-जंतु है, सृष्टि है। पारिस्थितिकी (इकोलॉजी) के निर्माण में जल ही महत्त्वपूर्ण है जल ही जीवन है। जल पर संकट है तो जीवन संकट में है। कवि मात्र जीवन नहीं बल्कि जीवन-चक्र की चिन्ता करता है।

‘सूर्य देवता’ गम्भीर चिन्ता का सर्ग है। कवि कहना चाहता है कि सृष्टि-चक्र सूर्य के ताप से संयोजित है। समुद्र, हवा, पर्वत, बादल, वर्षा, हरीतिमा, नदियाँ, आदि ये सभी सूर्य की अनुकम्पा से हैं। जल, जंगल, हवा, प्राणी का संतुलन स्वतःस्फूर्त है। इसमें मानवीय छेड़-छाड़ से इनका संतुलन बिगड़ता है। तब सूर्य की अनुकम्पा क्रोध में बदल जाती है। इस क्रोध से हरियाली मिटती है, मेघ उजड़ते हैं, नदियाँ सूख जाती हैं, वन्य प्राणियों का विलोपन होता है, झरने लुप्त हो जाते हैं, तापमान बढ़ता है। पृथ्वी पर जीवन का स्पन्दन मथ जाता है; मौन हो जाता है

“मौन हुए नृत्य-गान
मौन हुए अहर्निश, मुखरित, मधुर स्वर
वाद्ययंत्र।”

कवि संकेत करता है कि यह पृथ्वी की आसन्न स्थिति है। इसके पहले कि सूर्य देवता की वक्र दृष्टि प्रखर हो, हमें पृथ्वी को बचाने के लिए भगीरथ प्रयास करना चाहिए। ‘सूर्य देवता’ सर्ग पूरे खण्ड काव्य की ‘नाक’ है। यह सर्ग कथ्य की सामयिकता और संवेदना, छन्द योजना, भाषा, अप्रस्तुत योजना आदि की दृष्टि से समृद्ध है। इसका कथ्य जितना प्रासंगिक है, उसकी प्रस्तुति उतनी ही काव्यात्मक है।

‘कुमार भगीरथ’ सर्ग संकल्प का सर्ग है। सगर-भगीरथ संवाद से जहाँ काव्य में कथात्मक जड़ता टूटती है वहाँ नाटकीय सौन्दर्य का भी समावेश होता है। सगर के उपदेश में आधुनिक बाजारवादी प्रवृत्ति “यूज एण्ड थ्रो” की विकृतियों पर गहरी चिन्ता व्यक्त है। वे मानते हैं कि इससे देश और जाति की मूल्यवान धरोहरों को सर्वाधिक हानि होती है। इसी प्रवृत्ति के कारण प्रकृति का अनियंत्रित दोहन हुआ है। इसी दोहन का दुष्परिणाम जल-संकट है। जल संकट से बचने का एकमात्र उपाय है हिमगिरि के अनंत उत्तराभि मुख नदियों को दक्षिणाभिमुख कर भारत खण्ड की भूमि पर उतारना। यह कार्य दुरुह-दुस्साध्य है। यहाँ कुमार भगीरथ दूरद्रष्टा अभियंता की तरह सोचता है और संकल्प लेता है

‘मैं उतार लाऊँगा

सुरसरि को भारत भूमि में।’

इस संकल्प को पूरा करने में कुमार भगीरथ अकेले नहीं हैं, बल्कि उनकी धर्म-पत्नी माधवीलता भी है। चिन्ता-चिन्तन सर्ग आत्ममंथन का सर्ग है। इसमें जल के स्वरूप, जल के महत्त्व और जल संचय के उपायों पर चिन्तन है। चिन्तन यह कि कैसे वर्षा के जल को पृथ्वी पर संचय किया जा सकता है। यह अकेले का कार्य नहीं, समूह का कार्य है। कुमार भगीरथ महसूस करते हैं कि व्यष्टि के चिन्तन को कार्य रूप देने के लिए समष्टि का श्रम-बल चाहिए। पुराणवादी सामाजिक संरचना राजतांत्रिक थी; व्यक्तिवादी थी। वहाँ कुमार भगीरथ अकेले ही तपस्या में रत था। आज का समाज प्रजातांत्रिक है; समष्टिवादी है। जल संकट जैसी विश्वव्यापी समस्या का समाधान सामूहिकता में ही संभव है। इसके लिए जन श्रम-बल नितांत आवश्यक है। जन-जन में जल-जंगल-जमीन-जीवन के अन्तःसम्बन्ध की चेतना जगाकर ही भावी पीढ़ियों को जल-संकट से उबारा जा सकता है। कवि ने पुराण कथा में इस सामूहिकता को अधिक महत्त्व दिया है। कवि ने कुमार भगीरथ को किसी तपस्वी-योगी की तरह प्रस्तुत नहीं किया है, बल्कि एक परिश्रमी निपुण और सभी आधारभूत संरचनाओं-संगठनों से सम्पन्न अभियंता के रूप में प्रस्तुत किया है। उनके साथ सौमित्र और शशिश्रु जैसे कुशल सर्वेक्षक हैं और पर्याप्त मात्रा में प्रशिक्षित श्रमिक हैं जिनका नेतृत्व वंशी और जंभी नामक युवक करते हैं। इस समूह का जीवन दर्शन है

“सह-अनुभूति ही/प्रगति का मर्म है,
जियो और-जीने दो/धर्मों का धर्म है।
द्वन्द्व नहीं प्रकृति में/ सामंजस्य का राग है।”

शेष सर्गअभियान, आरम्भ, स्वर्ण-विहान, जलयज्ञ, संकल्प और चिन्तन को कार्यरूप देने और फलागम का है।

मिथकीय काव्य में युगीन चेतना महत्त्वपूर्ण होती है। पुरा-कथा की आधुनिक विश्वसनीयता के प्रति कवि को सजग रहना पड़ता है। इस दृष्टि से कवि व्यास सजग प्रतीत होते हैं। गंगा के बहाने जल संकट और उसमें उत्पन्न तमाम समस्याएँ कवि के दृष्टिपथ में हैं पारिस्थितिकी का बिखराव, कृषि योग्य भूमि का क्षय, मरुभूमि का विस्तार, संसाधनों की कमी आदि युगीन चिंता है। कोई एक भगीरथ इन समस्याओं का समाधान नहीं कर सकता है। इसलिए गंगावतरण में भगीरथ के साथ पूरा प्रशासन वैज्ञानिक, सर्वेक्षक, पूरी जनता नर-नारी सभी दृढ़-संकल्प के साथ हैं। कवि व्यास ने इसे आत्ममुक्ति का नहीं बल्कि जन कल्याण का अभियान माना है। हिमाचल की अनेक उत्तरवाहिनी नदियों को एकत्रित कर एक धारा बनाकर दक्षिण-वाहिनी बनाना, शिवजी की जटा के रूप में हिमालय के वन प्रान्त को दर्शाना बहुत वैज्ञानिक और प्रासंगिक है। जल संचय, वन संरक्षण, मृदा संरक्षण आदि तमाम चिन्ताएँ पर्यावरण

संरक्षण का प्रयास हैं। कवि व्यास के पास भारतीय साहित्य और सांस्कृतिक परंपरा के विशद ज्ञान के साथ-साथ पर्यावरण संरक्षण का व्यापक अनुभव और प्रतिबद्धता है। उन्होंने इस प्रतिबद्धता को काव्यात्मक ढंग से प्रस्तुत किया है।

‘गंगावतरण’ में छन्द-योजना और भाषा का सौंदर्य आकर्षक है। छन्द गंगा की लहरों की तरह सरल और तरल हैं। एक मसृण प्रभाव से छन्द आगे बढ़ता है। शब्द योजना के स्तर पर कवि ने तत्सम शब्दावली का निर्वाह आदि से अंत तक कुशलता और सफलता के साथ किया है। इस प्रयोग में दुरुहता नहीं बल्कि पवित्रता है। इन शब्दावलियों से पुराकालीन भारतीयता और गंगा की पावनता के वातावरण का निर्माण हुआ है। शब्दावलियों से गुजरते वक्त अनायास ही हमारे मन में पड़े सामयिक आवरण हट जाते हैं और परिष्कृत संस्कार का उदय हो जाता है। पूरे काव्य में यह प्रवाह है। तद्भव और देशज बहुल भाषा में शायद ही यह सौष्ठव आ पाता। इस भाषा ने काव्य को गरिमा प्रदान की है।

अस्तु, काव्य में आरम्भ से अन्त तक पर्यावरण की चिन्ता है। काव्य सौष्ठव की शिथिलता कवि को स्वीकार है, परन्तु वह पर्यावरण को एक पल के लिए भी ओझल होने नहीं देता यह कवि की प्रतिबद्धता है। यह काव्य आह्लाद से अधिक चिन्तन का मार्ग प्रशस्त करता है। कहना चाहिए कि ‘गंगावतरण’ एक पर्यावरण विद के चिन्तन का काव्यात्मक रूप है।

पाठकीय प्रतिक्रिया

चिन्तन-सृजन का अप्रैल-जून 2007 अंक मिला। उसमें आपका संपादकीय पढ़ा और कुछ और लेख देखे। संपादकीय में आपने श्रीमती (अब महामहिम) प्रतिभा पाटिल के पर्दा-प्रथा विषयक वक्तव्य पर मचे कोहराम को लेकर जो लिखा है वह बहुत आवश्यक था। उस पर दैनिक समाचार-पत्रों में भी प्रताड़नाएँ आनी चाहिए थीं जो कम से कम चार समाचार-पत्रों में, जो मैं देखता हूँ, नहीं देखने को मिलीं।

सुश्री प्रतिभा पाटिल ने हिन्दू स्त्रियों में पर्दा-प्रथा को लेकर जो बात कही है वह प्रायः सर्वमान्य है। अब, यदि यह मान भी लें कि वह सच नहीं है तो भी उसे लेकर छातियाँ पीटने, सांप्रदायिकता का आरोप लगाने आदि की क्या बात थी? युक्ति और तथ्यों के उल्लेख से यह कहने की बात ही थी कि यह एक मिथ्या धारणा है। अब, जहाँ तक सेक्युलरिज्म का प्रश्न है, हमारे देश में इसका अर्थ मुस्लिम-समर्थन और हिन्दू-विरोध ही हो गया है, तभी वामपंथी सबसे बड़े सेक्युलरिस्ट और जमियत उलिमा-ए-हिन्द के मौलवी सेक्युलरिज्म का प्रमाण-पत्र देने के अधिकारी हैं। किन्तु मुसलमान यह समझ नहीं पा रहे हैं कि हमारा यह सेक्युलरिज्म मुसलमानों को उनके कट्टरपन के अँधेरे में डाले रखने का एक षड्यंत्र मात्र है जिसे रचने में हमारे कुछ राजनीतिक दल और मुस्लिम नेता एकजुट हैं।

किन्तु यहाँ मैं यह और जोड़ना चाहूँगा कि हिन्दुओं में कट्टर मुस्लिम संगठनों के अनुकरण में जो कुछ दल उभर आये हैं वे हिन्दुओं का और देश का केवल अहित ही कर रहे हैं और हिन्दुओं को लज्जा का आस्पद बना रहे हैं। इसके अतिरिक्त ये इन तथाकथित सेक्युलरिस्टों के धोखे के लिए औचित्य का जामा भी प्रस्तुत कर रहे हैं।

इन तीन वर्गों ने, जिनसे जनसाधारण बहुत कुछ बाहर है, देश की राजनीति को इतना दूषित कर रखा है कि लगता है जैसे देश हिन्दू-मुस्लिम वैमनस्य से उबर ही नहीं सकता और कि इन दो समुदायों के बीच बस यही एक सम्बन्ध है।

पिछले अंक में मेरी पुस्तक ‘समसामयिक चिन्ताएँ’ की जो समीक्षा प्रकाशित हुई है वह साधारण रूप से काफी अच्छी है। इतने कम स्थान में इतना विस्तृत विवरण देना बड़े कौशल की बात है। इसकी तीन और समीक्षाएँ भी प्रकाशित हुईं, जो इस कौशल के अभाव के कारण एकांगी रहीं।

किन्तु इस अच्छी समीक्षा में कुछ दृष्टि-दोष हैं जिनकी ओर मैं संकेत करना चाहता हूँ। इस दृष्टि-दोष का कारण लेखक का सिद्धान्ताग्रह है, जिसके कारण उसने

मेरे अत्यन्त स्पष्ट अभिप्राय को भी समझने में भूल कर दी। यहाँ मैं इसके केवल दो-तीन उदाहरण ही ढूँगाश्री राम के प्रति मेरे मन में अपार श्रद्धा है, इतनी कि मैं उनके नाम के साथ 'भगवान' जोड़े बिना नहीं रह पाता। इसलिए उनके द्वारा सीता को प्रवासित करने का उल्लेख मैंने उनका दोष दिखाने के लिए नहीं किया, वह उल्लेख इस उदाहरण के रूप में किया कि कैसे युग-बोध बड़े प्राज्ञों की दृष्टि को भी उपहित कर देता है। इसी प्रसंग में मैंने प्लेटो और सुकरात का भी उल्लेख किया है कि कैसे ये इतने बड़े दार्शनिक और उदार दृष्टिवान् भी दासों को मनुष्य ही नहीं मानते थे। यह बात मनु को गाली देने वालों के भी समझने की है। ऐसी ही भूल डॉ. कुमार ने मुहम्मद इकबाल विषयक मेरे उल्लेख को समझने में की है। मेरे विचार का प्रसंग वहाँ इकबाल के कार्यों पर विचार करने का नहीं है, वहाँ प्रसंग भारतीय मुसलमानों में एक ऐसी भी भाव-धारा होने का है, और इकबाल की वे कविताएँ उसके उदाहरण रूप में दी गई हैं। अन्यथा इकबाल के दूसरे पक्ष को, जिन्ना को और मुस्लिम लीग के कारनामों को कौन नहीं जानता? इसी प्रकार डॉ. कुमार के अनुसार मैंने 'बावरी मस्जिद समर्थकों के विवेक' की बात कही है। किन्तु ऐसा मैंने कहीं कुछ नहीं कहा। ऐसी ही भ्रान्ति डॉ. कुमार की दूसरी आलोचनाओं के आधार में भी है, जो पाठक पुस्तक पढ़ने पर सहज ही देख सकते हैं। डॉ. कुमार जैसे सुधी व्यक्ति ने मेरे स्पष्ट आशयों को समझने में ऐसी भूल कैसे की, कुछ समझ में नहीं आया।

यशदेव शल्य, संपादक, उन्मीलन, जयपुर।

... चिन्तन-सृजन का सम्पादकीय स्तंभ सारगर्भित, न्यायोचित एवं प्रासंगिक होता है और आपके विचारों तथा दृष्टिकोण से मैं भी पूर्णतया सहमत हूँ। वर्ष-4 अंक-3 (जनवरी-मार्च 2007) के अन्तर्गत विद्वान साहित्यकार डॉ. पुष्पपाल सिंह जी का निबंध 'कुछ सवाल : पुस्तक समीक्षा के संदर्भ में' विचारणीय हैं और इसी विषय पर मेरा एक लेख भी चिन्तन-सृजन के वर्ष-3 अंक-2 (अक्टूबर-दिसम्बर 2005) में... प्रकाशित हो चुका है। अतः पुस्तक समीक्षकों को आत्ममंथन करने की आवश्यकता है।

पत्रिका के विगत चार वर्षों की रचना-यात्रा अंक दर अंक विकसित तथा प्रगति पर है। मेरे पास दर्जनों वैज्ञानिक एवं साहित्यिक पत्रिकाएँ आती हैं किंतु मात्र यही पत्रिका है जो विविध रसों का रसास्वादन कराती हुई मेरी रुग्णावस्था में संबल बनी रही। यों तो सभी लेख और ललित निबंध उच्च कोटि के हैं, ज्ञानवर्धक, सूचनाप्रद एवं तथ्यपूर्ण व शोधपरक हैं, किंतु श्री देवेन्द्र इस्सर जी का आलेख 'मीडिया : आतंकवाद', डॉ. कृपाशंकर सिंह जी का निबंध 'दक्खिनी हिंदी', डॉ. विजयराघव रेड्डी जी का लेख 'दक्षिण भारत में हिंदी का रचनात्मक लेखन' उत्प्रेरक हैं तथा डॉ. श्रीरंजन सूरिदेव जी का शोधपरक लेख 'बिहार में हिंदी: उद्गम और प्रगति' सराहनीय है।

पत्रिका के अप्रैल-जून 2007 अंक में अधिकतर निबंध ज्ञानवर्धक व सूचनाप्रद तो हैं ही साथ ही शोधपरक भी हैं। श्री कृष्णनाथ जी का 'हिमालयी संस्कृति', श्री

राजमल बोरा जी का 'नाग भाषा परिवार और प्राकृत भाषाएँ', श्री शत्रुघ्न प्रसाद जी का 'मुहम्मद इकबाल की काव्यचेतना में इस्लाम' तथा डॉ. राजीव रंजन उपाध्याय जी का 'विश्वात्मा सर्वशैलोत्तमोत्तमममेरुः' सराहनीय शोधपरक लेख हैं। तथ्य परक निबंधों में श्री शंकर शरण जी का 'जाति व्यवस्था का सच' और श्री नरेश कुमार अम्बष्ठ जी का 'भारतीय प्रजातंत्र में विकृति' अत्यधिक मर्मस्पर्शी एवं हृदयग्राही हैं।

सभी निबंधों का चयन बहुत ही कुशलता से किया गया है। पत्रिका के संपादन से जुड़े सभी विद्वानों का मैं हार्दिक अभिनंदन करता हूँ और परमपिता परमात्मा से प्रार्थना है कि सभी लेखकों एवं पाठकों के सहयोग से पत्रिका का चहुँमुखी विकास उत्तद्गरोत्तर होता रहे।

डॉ. विष्णुदत्त शर्मा, गजियाबाद।

यह अंक अप्रैल-जून 2007 अपने शोधपरक आलेखों तथा सांस्कृतिक द्वन्द्व के प्रति चिन्तनशील रचनाओं से समृद्ध है। श्री राम बहादुर राय जी ने दिवंगत धर्मपाल जी की साधना का स्मरण कराकर कृतघ्न आधुनिक बुद्धिजीवियों को प्रबुद्ध करने का प्रयत्न किया है। प्रसिद्ध विद्वान रमेशचन्द्र शाह ने स्वदेश और लगान फिल्मों की तुलना करते हुए बीसवीं-इक्कीसवीं सदी के चिन्तकों- साधकों के युगीन सम्यक चिन्तन की ओर इंगित कर दिया है। इसी की अपेक्षा रही है। श्रीमान शंकर शरण ने जाति व्यवस्था के रूप को समझने का प्रयत्न किया है। पर इस व्यवस्था के विकास क्रम, दोष, जनजीवन के असन्तोष तथा असन्तोष के निवारण के प्रयत्नों पर प्रकाश नहीं पड़ सका है। यदि वर्ग व्यवस्था एवं पूरक जाति व्यवस्था पूर्णतः सांस्कृतिक मानवीय है तो 14वीं-15वीं सदी में बुनकर समाज ने क्यों इस्लाम कबूल किया? डॉ. आम्बेडकर क्यों क्षुब्ध होकर बुद्ध की शरण में गये? मिशनरियाँ क्यों समाज के किसी वर्ग को शिकार बना रही हैं? भाषा विज्ञान के विद्वान डॉ. बोरा ने नाग भाषा परिवार का प्रथम परिचय कराया है। पर इसकी विस्तृत रूपरेखा नहीं आ सकी। सर्वश्री राजीव रंजन उपाध्याय तथा कुमारी अपराजिता ने मेरु और उत्तरकुरु का सार्थक दर्शन कराया है। अन्ततः डॉ. नित्यानन्द श्रीवास्तव ने बड़ी गंभीरता से भारत की शक्ति तथा समस्या को रखा है। आज 'चिन्तन-सृजन' वैचारिक पत्रिकाओं में अग्रगण्य तथा चर्चित है। मंगल कामना समर्पित है।

शत्रुघ्न प्रसाद, पटना।

इस आलोच्य अंक (चिन्तन-सृजन के अप्रैल-जून 2007) में प्रकाशित सम्पादकीय परिप्रेक्ष्य में 'विचारों की इमरजेंसी' पढ़ने के बाद ऐसा प्रतीत हुआ जो आज के स्वतंत्र भारत में कथनी और करनी में कितना अन्तर है, यह इसे उजागर करता है। वर्तमान में गद्दी पाने की ललक हमारे राजनेताओं में इतनी अधिक आन पड़ी है कि वे नहीं चाहते कि भारतीय संविधान सम्मत अधिकारों का भी सही उपयोग कोई भारतीय कर सके।

...आज भारतीय राजनीति की यह बिडम्बना ही है कि देश की संवैधानिक मान्यता के अनुरूप ऐसे पक्षों पर जहाँ राजनीति निरपेक्ष लोगों को रहना चाहिए वहाँ भी ऐसे लोगों को आसीन किया जा रहा है जिन्हें भविष्य में वे दल जिनके वे प्रत्याशी होते हैं अपने मोहरे के रूप में उनका उपयोग कर सकें। इस सन्दर्भ अंक में प्रकाशित सभी सामग्री पठनीय तो है ही साथ ही बहुत कुछ सोचने को बाध्य करती है। खास कर राम बहादुर राय जी लिखित आलेख 'धर्मपाल, जिन्होंने रास्ता दिखाया', शंकर शरण का 'जाति व्यवस्था का सच', नरेश कुमार अम्बष्ट का 'भारतीय प्रजातंत्र में विकृति', नित्यानन्द श्रीवास्तव के 'हम कौन थे क्या हो गये' तथा कु. अपराजिता राय 'वर्षा' का 'भारतीय संस्कृति की अनोखी पहचान उत्तर-कुरु' ने मुझे काफी प्रभावित किया। इस अंक के सभी रचनाकारों को मेरा साधुवाद। साथ ही एक विशेष आग्रह कि इस पत्रिका में दो-चार पन्ने लघु कथा एवं कविताओं के लिए भी हों जो 'चिन्तन-सृजन' की अवधारणाओं के अनुरूप इनके पाठकों के लिए उपयोगी सिद्ध हो सकें। यदि ऐसा कुछ कर पाना सम्भव हो तो मेरी नजर में यह एक महत्वपूर्ण बात होगी।

तारानन्द झा 'तरुण' सुपौल, मिथिला (बिहार)।

'चिन्तन-सृजन' के दो अंक (अक्टूबर-दिसम्बर 2006 तथा अप्रैल-जून 2007) प्राप्त हुए। एक वैचारिक, सांस्कृतिक एवं साहित्यिक पत्रिका पढ़कर बहुत अच्छा लगा। दोनों अंकों में विषयों की विविधता होने पर भी सभी निबंधों में एक स्तर बना हुआ है। शंकर शरण और शत्रुघ्न प्रसाद के लेख विशेष रूप से अच्छे लगे।...

क्रांति, वडोदरा।

'चिन्तन-सृजन' का अंक अप्रैल-जून, 2007 मिला। जिसे और जिन्हें पढ़ना मैं जरूरी समझता हूँ उनमें से अभी तक पढ़ा सम्पादकीय परिप्रेक्ष्य, श्री शंकर पुणतांबेकर का 'ईश्वर', श्री शंकर शरण का 'जाति-व्यवस्था का सच', डॉ. राजमल बोरा का 'नाग भाषा परिवार और प्राकृत भाषाएँ', श्री शत्रुघ्न प्रसाद का 'मु. इकबाल की काव्य चेतना में इस्लाम' लेख तथा डॉ. ब्रज बिहारी कुमार की पुस्तक चर्चा 'समसामयिक चिन्ताएँ' उल्लेखनीय हैं। और न चाहते हुए भी एक और नाम जुड़ गया अपराजिता राय 'वर्षा' का। उसका लेख 'भारतीय संस्कृति की अनोखी पहचान उत्तर कुरु' वाकई बहुत अच्छा लगा।

डॉ. केशिकान्त, पंजाबी विश्वविद्यालय परिसर, पटियाला।

आपकी प्रतिष्ठित और लोकप्रिय त्रैमासिकी 'चिन्तन-सृजन' का जुलाई-सितम्बर 2006 अंक देखने और पढ़ने का सौभाग्य मिला। यह शोधपूर्ण, सार्थक, सटीक, सारगर्भित और सुपठनीय सामग्री से तो परिपूर्ण है ही, इसमें रोचक, प्रेरक और

ज्ञानवर्द्धक रचनाओं का भी अभाव नहीं है। इस अंक में डॉ. एल. व्यास हैदराबाद के शब्दों 'इसमें काफी 'heavy weight' लेख हैं।' में कम भारीपन नहीं, जो पाठकों को इस पत्रिका में पूरी तरह रुचि लेने की प्रेरणा दे। अपनी इस संक्षिप्त टिप्पणी के साथ पत्रिका के निरंतर चालू रहने की शुभकामना करते हुए विनम्र आग्रह करता हूँ कि सरल, सहज, स्वाभाविक, सरस मधुर भाषा-शैली वाले लेखकों को भी प्रोत्साहन दें।

वीरेन्द्र शर्मा 'कौशिक' सेवानिवृत्त प्राचार्य एवं स्वतन्त्र पत्रकार, लेखक, समीक्षक, मऊरानीपुर, झांसी (उ. प्र.)।

संपादकीय का शीर्षक 'विचारों की इमरजेंसी' अप्रैल-जून 2007 काफी आकर्षक और सजीव लगा। ...

विषपायी, मंदसौर (म. प्र.)।

... यह एक ऐसी पत्रिका है जिससे अनेक प्रकार की वैचारिक सामग्री प्राप्त हो जाती है। यह पत्रिका नियमित रूप से निकलती रहेहमारी यही शुमेच्छा है।

डॉ. अंजना वर्मा, रीडर, हिन्दी विभाग, नीतीश्वर महाविद्यालय, मुजफ्फरपुर।

प्राप्ति-स्वीकार

पिछले अंकों में सूचीबद्ध पुस्तकों/पत्रिकाओं के अतिरिक्त प्राप्त नयी पुस्तकें/पत्रिकाएँ :

पुस्तकें :

साहित्य का अध्यात्म, लेखक : नन्दकिशोर आचार्य, प्रकाशक : सूर्य प्रकाशन मन्दिर, नेहरू मार्ग (दाऊजी रोड), बीकानेर, प्रथम संस्करण : 2006 ई., पृष्ठ 160, मूल्य 175/- रुपए।

नामवर सिंह : वाद-विवाद और संवाद के मनीषी, लेखक : प्रो. राजमल बोरा, प्रकाशक : मिलिन्द प्रकाशन, 4-3-178/2, कन्दास्वामी बाग, हनुमान व्यायामशाला की गली, सुल्तान बाजार, हैदराबाद-500095, प्रथम संस्करण 2007, पृष्ठ 144, मूल्य : 200/- रुपए।

भारत की भाषाएँ और साहित्य (सोलहवीं शताब्दी), लेखक : प्रो. राजमल बोरा, प्रकाशक : मिलिन्द प्रकाशन, 4-3-178/2, कन्दास्वामी बाग, हनुमान व्यायामशाला की गली, सुल्तान बाजार, हैदराबाद-500095, प्रथम संस्करण 2007, पृष्ठ 360,

मूल्य : 450/- रुपए।

भारत में प्रचलित सेक्युलरवाद, लेखक : डॉ. शंकर शरण, प्रकाशक : अक्षय प्रकाशन, 208, एम. जी. हाउस, 2 कम्यूनिटी सेण्टर, वजीरपुर इंडस्ट्रियल एरिया, दिल्ली-110052, प्रथम संस्करण 2007, पृष्ठ 212, मूल्य : 150/- रुपए।

कोतवाल नशे में, लेखक : डॉ. चन्द्रशेखर शर्मा 'शेखर', प्रकाशक : अरविन्द प्रकाशन, डी-131, रमेश विहार, अलीगढ़-202001, उत्तर प्रदेश, प्रथम संस्करण : 2006, पृष्ठ 32, मूल्य : 20 रुपए।

CONCH-BANGLES AND VERMILION, A Historico-Cultural Novel based on Bangladesh ballads; by Ramanath Tripathi, Translated from Hindi by Prabhat Kumar Pandey, Published : Harish Chandra for Akshaya Prakashan, 208, M.G. House, 2 Community Centre, Wazirpur Industrial Area, Delhi-110 052, First English Edition, Delhi 2005, Page 94, Price 150/-.

Vishnu The Blue God, An Anthology of Hymns & Eulogies, Translated by Prabhat Kumar Pandey, Published : Harish Chandra for Akshaya Prakashan, 208, M.G. House, 2 Community Centre, Wazirpur Industrial Area, Delhi-110 052, First English Edition, Delhi 2006, Page 62, Price 75/-.

पत्रिकाएँ :

उन्मीलन, मानसिक हिन्द स्वराज का वैतालिक, दार्शनिक षण्मासिक, वर्ष 21, अंक 1 जनवरी, 2007 और पहले के अंक, संपादक : यशदेव शल्य-मुकुंद लाठ, दर्शन प्रतिष्ठान, जयपुर, पी-51 मधुवन पश्चिम, किसान मार्ग, जयपुर-302015, पृष्ठ 108, वार्षिक शुल्क 50 रुपए।

सहकार, राष्ट्रीय चेतना एवं सत्साहित्य का अव्यावसायिक प्रकाशन, 'विविधायन' अंक (श्री भानुदत्त त्रिपाठी 'मधुरेश' के कृतित्व पर केन्द्रित), अंक 40-41 अप्रैल-2006 वर्ष : 12, संपादक : श्री भानुदत्त त्रिपाठी 'मधुरेश', हिन्दी सहकार संस्थान, 362 सिविल लाइन्स (कल्याणी), उन्नाव-209801 (उ.प्र.) पृष्ठ 132, अंक का मूल्य : 25 रुपए।

जमदग्नि वीथिका, ललित निबंधकार कुबेरनाथ राय पर एकाग्र, वर्ष 7, 2003-04, अंक : 7, संपादक : संजय कृष्ण, प्रकाशक : वीथिका प्रकाशन, जमानियाँ स्टेशन, गाजीपुर, पृष्ठ 200, अंक का मूल्य : 30 रुपए।

पिनाक, साहित्य एवं संस्कृति की त्रैमासिकी, प्रवेशांक, जुलाई-सितम्बर 2007, संपादक : शत्रुघ्न प्रसाद, त्रिपाठी भवन, राजेन्द्र नगर पथ संख्या-13 ए, पटना-16. पृष्ठ 50, अंक का मूल्य : 15 रुपए।

130

चिन्तन-सृजन वर्ष-5 अंक-1

चिन्तन-सृजन का स्वामित्व सम्बन्धी विवरण

फार्म 4

नियम 8

1. प्रकाशन स्थान : दिल्ली
2. प्रकाशन अवधि : त्रैमासिक
3. स्वामी : आस्था भारती, नई दिल्ली
4. मुद्रक : डॉ. बी.बी. कुमार
सचिव, आस्था भारती
(क्या भारत के निवासी हैं?)
पता : हॉ, भारतीय
27/201, ईस्ट एण्ड अपार्टमेण्ट
मयूर विहार फेस-1 विस्तार
दिल्ली-110096
5. प्रकाशक : डॉ. बी.बी. कुमार
सचिव, आस्था भारती
(क्या भारत के निवासी हैं?)
पता : हॉ, भारतीय
27/201, ईस्ट एण्ड अपार्टमेण्ट
मयूर विहार फेस-1 विस्तार
दिल्ली-110096
6. सम्पादक : डॉ. बी.बी. कुमार
सचिव, आस्था भारती
(क्या भारत के निवासी हैं?)
पता : हॉ, भारतीय
27/201, ईस्ट एण्ड अपार्टमेण्ट
मयूर विहार फेस-1 विस्तार
दिल्ली-110096

मैं डॉ. बी.बी. कुमार घोषित करता हूँ कि उपर्युक्त विवरण मेरी जानकारी और विश्वास के अनुसार सही है।

30.07.2007

(ह.) डॉ. बी.बी. कुमार
प्रकाशक

चिन्तन-सृजन वर्ष-5 अंक-1

131

*We Strive
to Satisfy
Our Customers*

VASUNDHARA MARKETING CO.

Sales Tax No. LC/13/017261/1080

☎ 3277883 (Off.)

Regd. Office

**1/3575, Netaji Subhash Marg
Darya Ganj, New Delhi-110002**